जिनागम ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक १

☐ सम्पादक मण्डल
अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
श्री रतन मुनि
पंडित श्री शोभाचन्द्र जी भारिल्ल

☐ प्रबन्ध-सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'

☐ संप्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्र मुनि 'दिनकर'

☐ अर्थसौजन्य
श्रीमान सायरमल जी चोरडिया एवं श्री जेठमल जी चोरड़िया

☐ प्रकाशन तिथि
वीर निर्वाण संवत् २५०७/वि० स० २०३७। ई० सन् १९८०

☐ प्रकाशक
श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन ३०५९०१

☐ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के निर्देशन में
स्वस्तिक आर्ट प्रिंटर्स, सेठगली आगरा-३

☐ मूल्य :

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

FIFTH GANADHARA SUDHARMA SWAMI COMPILED :
FIRST ANGA

ĀCĀRĀṄGA SŪTRA

[PART I]

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Chief Editor
Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Editor & Annotator
Srichand Surana 'Saras'

Sri Agama Pr·

□ Jinagam Granthmala : Publication No. 1

□ Board of Editors
Anuyoga Pravartaka Munisri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandraji Bharilla

□ Managing Editor
Srichand Surana 'Saras'

□ Promoter
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

□ Financial Assistance
Sri Sayarmalji Chauradiya & Sri Jethamalji Chauradiya

□ Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Jain Sthanak, Pipalia Bazar, Beawar (Raj) [India]
Pin. 305901

□ Printers
Swastik Art Printers, Seth Gali, Agra-3
under the supervision of Srichand Surana 'Saras'

□ Price
Rs. Tewentyfive 25/- (Cost-price) only.

समर्पण

जिनवाणी के परम उपासक, बहुभाषाविज्ञ

वयःस्थविर, पर्यायस्थविर, श्रुतस्थविर

श्री वर्धमान जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी

श्रमणसंघ के द्वितीय आचार्य

परम आदरणीय श्रद्धास्पद राष्ट्रसंत

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

को

सादर-सविनय-समर्पित

—मधुकर मुनि

बाद पुनः उसमें भी व्यवधान आ गए। साम्प्रदायिक द्वेष, सैद्धान्तिक विग्रह तथा लिपिकारों का अज्ञान-आगमों की उपलब्धि तथा उसके सम्यक् अर्थबोध मे बहुत बड़ा विघ्न बन गए।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण मे जब आगम-मुद्रण की परम्परा चली तो पाठकों को कुछ सुविधा हुई। आगमो की प्राचीन टीकाएँ, चूर्णि व निर्युक्ति जब प्रकाशित हुई तथा उनके आधार पर आगमों का सरल व स्पष्ट भावबोध मुद्रित होकर पाठको को सुलभ हुआ तो आगम-ज्ञान का पठन-पाठन स्वभावतः बढ़ा, सैकड़ों जिज्ञासुओं मे आगम-स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगी व जैनेतर देशी-विदेशी विद्वान भी आगमों का अनुशीलन करने लगे।

आगमो के प्रकाशन-सम्पादन-मुद्रण के कार्य में जिन विद्वानो तथा मनीषी श्रमणो ने ऐतिहासिक कार्य किया, पर्याप्त सामग्री के अभाव मे आज उन सबका नामोल्लेख कर पाना कठिन है। फिर भी मैं स्थानकवासी परम्परा के कुछ महान मुनियों का नाम-ग्रहण अवश्य ही करूंगा।

पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के वे महान् साहसी व दृढ संकल्पबली मुनि थे, जिन्होंने अल्प साधनों के बल पर भी पूरे बत्तीस सूत्रों को हिन्दी मे अनूदित करके जन-जन को सुलभ बना दिया। पूरी बत्तीसी का सम्पादन-प्रकाशन एक ऐतिहासिक कार्य था, जिससे सम्पूर्ण स्थानकवासी-तेरापंथी समाज उपकृत हुआ।

गुरुदेव पूज्य स्वामी जी श्री जोरावरमल जी महाराज का एक संकल्प—मैं जब गुरुदेव स्व० स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज के तत्त्वावधान मे आगमो का अध्ययन कर रहा था तब आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित कुछ आगम उपलब्ध थे। उन्हीं के आधार पर गुरुदेव मुझे अध्ययन कराते थे। उनको देखकर गुरुदेव को लगता था कि यह संस्करण यद्यपि काफी श्रमसाध्य है, एवं अब तक के उपलब्ध संस्करणों में काफी शुद्ध भी है, फिर भी अनेक स्थल अस्पष्ट हैं, मूल पाठ मे व उसकी वृत्ति में कहीं-कहीं अन्तर भी है।

गुरुदेव स्वामी श्री जोरावरमल जी महाराज स्वयं जैनसूत्रो के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनकी मेधा बड़ी व्युत्पन्न व तर्कणाप्रधान थी। आगम साहित्य की यह स्थिति देखकर उन्हें बहुत पीडा होती और कई बार उन्होंने व्यक्त भी किया कि आगमो का शुद्ध, सुन्दर व सर्वोपयोगी प्रकाशन हो तो बहुत लोगों का भला होगा। कुछ परिस्थितियों के कारण उनका संकल्प, मात्र भावना तक सीमित रहा।

इसी बीच आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज, जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज, पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज आदि विद्वान् मुनियों ने आगमों की सुन्दर व्याख्याएं व टीकाएं लिखकर अथवा अपने तत्त्वावधान में लिखवाकर इस कमी को पूरा किया है।

वर्तमान मे तेरापंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री तुलसी ने भी यह भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ किया है और अच्छे स्तर से उनका आगम-कार्य चल रहा है। मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' आगमों की वक्तव्यता को अनुयोगों मे वर्गीकृत करने का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के विद्वान श्रमण स्व० मुनि श्रीपुण्यविजय जी ने आगम-सम्पादन की दिशा मे बहुत ही व्यवस्थित व उत्तम कोटि का कार्य प्रारम्भ किया था। उनके स्वर्गवास के पश्चात मुनि श्री जम्बूविजय जी के मार्गदर्शन में यह सुन्दर प्रयत्न चल रहा है।

उक्त सभी कार्यों पर विहंगम अवलोकन करने के बाद मेरे मन मे एक संकल्प उठा। आज कहीं तो आगमों का मूल मात्र प्रकाशित हो रहा है और कहीं आगमों की विशाल व्याख्याएं की जा रही है। एक पाठक के लिए दुर्बोध है तो दूसरी जटिल। मध्यम मार्ग का अनुसरण कर आगम वाणी का भावोद्घाटन करने वाला ऐसा प्रयत्न होना चाहिए जो सुबोध भी हो, सरल भी हो, संक्षिप्त हो, पर सारपूर्ण व सुगम हो। गुरुदेव ऐसा ही चाहते थे। इसी भावना को लक्ष्य में रखकर मैंने ४-५ वर्ष पूर्व इस विषय

में चिन्तन प्रारम्भ किया था। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् गतवर्ष[1] दृढ़ निर्णय करके आगम-बत्तीसी का सम्पादन-विवेचन कार्य प्रारम्भ कर दिया और अब पाठकों के हाथों में आगम ग्रन्थ, क्रमशः पहुँच रहे हैं, इसकी मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है।

आगम-सम्पादन का यह ऐतिहासिक कार्य पूज्य गुरुदेव की पुण्य स्मृति में आयोजित किया गया है। आज उनका पुण्य स्मरण मेरे मन को उल्लसित कर रहा है। साथ ही मेरे वन्दनीय गुरु-भ्राता पूज्य स्वामी श्री हजारीमल जी महाराज की प्रेरणाएँ, उनकी आगम-भक्ति तथा आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान मेरा सम्बल बना है। अतः मैं उन दोनों स्वर्गीय आत्माओं की पुण्य स्मृति में विभोर हूँ।

शासनसेवी स्वामी जी श्री बृजलाल जी महाराज का मार्गदर्शन, उत्साह-संवर्द्धन, सेवाभावी शिष्य मुनि विनयकुमार व महेन्द्र मुनि का साहचर्य बल, सेवा-सहयोग तथा महासती श्री कानकुँवर जी, महासती श्री झणकारकुँवर जी, परम विदुषी साध्वी श्री उमराव कुँवर जी 'अर्चना' की विनम्र प्रेरणाएँ मुझे सदा प्रोत्साहित तथा कार्यनिष्ठ बनाए रखने में सहायक रही हैं।

मुझे दृढ़ विश्वास है कि आगम-वाणी के सम्पादन का यह सुदीर्घ प्रयत्नसाध्य कार्य सम्पन्न करने में मुझे सभी सहयोगियों, श्रावकों व विद्वानों का पूर्ण सहकार मिलता रहेगा और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में गतिशील बना रहूँगा।

इसी आशा के साथ…

—मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

---

१. वि० सं० २०३६ वैशाख शुक्ला १० महावीर कैवल्य दिवस।

सम्पूर्ण आन्तर-अनुशीलन करने के बाद मेरी यह धारणा बनी है कि दर्शन-अध्यात्म व आचार-धर्म की त्रिपुटी है—आचारांग सूत्र।

मधुर व गेय पद-योजना

आचारांग (प्रथम) आज गद्य-बहुल माना जाता है, पद्य भाग इसमें बहुत अल्प है। डा० शुब्रिंग के मतानुसार आचारांग भी पहले पद्य-बहुल रहा होगा, किन्तु अब अनेक पद्यांश खण्ड रूप में ही मिलते हैं। दशवैकालिक निर्युक्ति के अनुसार आचारांग गद्यशैली का नहीं, किन्तु चौर्णशैली का आगम है। चौर्ण शैली का मतलब है—जो अर्थ बहुल, महार्थ, हेतु-निपात उपसर्ग से गम्भीर, बहुपाद, विरामरहित आदि लक्षणों से युक्त हो।[1] बहुपाद का अर्थ है जिसमें बहुत से 'पद' (पद्य) हों। समवायांग तथा नन्दी सूत्र में भी आचारांग के संखेज्जा सिलोगा का उल्लेख है।[2]

आचारांग के सैकड़ों पद, जो भले ही पूर्ण श्लोक न हों, किन्तु उनके उच्चारण में एकलय-बद्धता सी लगती है, छन्द का सा उच्चारण ध्वनित होता है, जो वेद व उपनिषद के सूक्तों की तरह गेयता युक्त है। उदाहरण स्वरूप कुछ सूत्रों का उच्चारण करके पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं।[3]

इस प्रकार की अद्भुत छन्द-लय-बद्धता जो मन्त्रोच्चारण-सी प्रतीत होती है, सूत्रोच्चारण में विशेष आनन्द की सृष्टि करती है।

भाषा शैली की विलक्षणता

विषय-वस्तु तथा रचनाशैली की तरह आचारांगसूत्र (प्रथम) के भाषा प्रयोग भी बड़े लाक्षणिक और अद्भुत हैं। जैसे—आमगंधं—(सदोष व अशुद्ध वस्तु)

अहोविहार—(संयम)
प्रवर्ण—(मोक्षस्थान)
विस्रोतसिका—(संशयशीलता)
वसुमान—(चारित्र-निधि सम्पन्न)
महासड्ढी—(महान अभिलाषी)

आचारांग के समान लाक्षणिक शब्द-प्रयोग अन्य आगमों में कम मिलते हैं। छोटे-छोटे सुगठित सूक्त उच्चारण में सहज व मधुर हैं।

इस प्रकार अनेक दृष्टियों से आचारांग सूत्र (प्रथम) अन्य आगमों से विशिष्ट तथा विलक्षण है इस कारण इसके सम्पादन विवेचन में भी अत्यधिक जागरूकता, सहायक सामग्री का पुनः पुनः अनुशीलन तथा शब्दों का उपयुक्त अर्थ बोध देने में विभिन्न ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है।

---

१ देखें दशवै० निर्युक्ति १७० तथा १७४।
२ समवाय ८९। नन्दी सूत्र ८०।
३

आतङ्कदंसी अहियं ति णच्चा—सूत्र	५६	अदिस्समाणे कय-विक्कएसु	८८
आरम्भ सत्ता पकरेंति संग—	६२	सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए	८८
लाभ त्ति ण मज्जेज्जा	६२	संधि विदित्ता इह मच्चिएहिं	९१
सण आणाहि पंडिते	६८	आरम्भजं दुक्खमिणं ति णच्चा	१०८
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं	७६	मायी पमायी पुणरेति गब्भं	१०८
सव्वेसिं जीवितं पियं	७८	अप्पमत्तो परिव्वए	१०८
णत्थि कालस्स णागमो	७८	कम्ममूलं च जं छणं	११०
आसं च छंदं च विगिंच धीरे	८३	अप्पाणं विप्पसादए	१२५

प्रस्तुत सम्पादन-विवेचन

आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का वर्तमान रूप परिपूर्ण है या खण्डित है—इस विषय में भी मतभेद है। डा० जैकोबी आदि अनुसंधाताओं का मत है कि आचारांग सूत्र का वर्तमान रूप अपरिपूर्ण है, खण्डित है। इसके वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। क्रियापद आदि भी अपूर्ण हैं। इसलिए इसका अर्थ-बोध व व्याख्या अन्य आगमों से कठिन व दुरूह है।

प्राचीन साहित्य में आगम व्याख्या की दो पद्धतियां वर्णित हैं—

१. छिन्न-छेद-नयिक
२. अच्छिन्न-छेद-नयिक

जो वाक्य, पद या श्लोक (गाथाएं) अपने आप में परिपूर्ण होते हैं, पूर्वापर अर्थ की योजना करने की जरूरत नहीं रहती, उनकी व्याख्या प्रथम पद्धति से की जाती है। जैसे दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि।

दूसरी पद्धति के अनुसार वाक्य, पद या गाथाओं की पूर्व या अग्रिम विषय संगति, सम्बन्ध, सन्दर्भ आदि का विचार करके उसकी व्याख्या की जाती है।

आचारांग सूत्र की व्याख्या में द्वितीय पद्धति (अच्छिन्न-छेद-नयिक) का उपयोग किया जाता है। तभी इसमें एकरूपता, परिपूर्णता तथा अविसंवादिता का दर्शन हो सकता है। वर्तमान में उपलब्ध आचारांग (प्रथम श्रुतस्कंध) की सभी व्याख्याएं—निर्युक्ति, चूर्णि, टीका, दीपिका व अवचूरि तथा हिन्दी विवेचन द्वितीय पद्धति का अनुसरण करती हैं।

वर्तमान में आचारांग सूत्र पर जो व्याख्याएं उपलब्ध हैं, उनमें कुछ प्रमुख ये हैं—

निर्युक्ति (आचार्य भद्रबाहु : समय-वि० ५-६ वीं शती)
चूर्णि (जिनदासगणी महत्तर : समय-६-७ वीं शती)
टीका (आचार्य शीलांक समय-८ वीं शती)

इन पर दो दीपिकाएं, अवचूरि व बालावबोध भी लिखा गया है, लेकिन हमने उसका उपयोग नहीं किया है।

प्रमुख हिन्दी व्याख्याएँ—आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज।
मुनि श्री सौभाग्यमलजी महाराज।
मुनि श्री नथमलजी महाराज।

यह तो स्पष्ट ही है कि आचारांग के गूढार्थ तथा महार्थ पदों का भाव समझने के लिए निर्युक्ति आदि व्याख्या ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है। निर्युक्तिकार ने जहाँ आचारांग के गूढार्थों का नय-शैली से उद्घाटन किया है, वहाँ चूर्णिकार ने एक शब्द-शास्त्री की तरह उनके विभिन्न अर्थों की ओर संकेत किया है। टीका में—निर्युक्ति एवं चूर्णिगत अर्थों को ध्यान में रखकर एक-एक शब्द के विभिन्न सम्भावित अर्थों पर सूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

आचारांग के अनेक पद एवं शब्द ऐसे हैं जो थोड़े से अन्तर से, व्याकरण, सन्धि व लेखन के अल्पतम परिवर्तन से भिन्न अर्थ के द्योतक बन जाते हैं। जैसे—

समत्तदंसी—इसे अगर सम्मत्तदंसी मान लिया जाय तो इस शब्द के तीन भिन्न अर्थ हो जाते हैं—
समत्तदंसी—समत्वदर्शी (समताशील)
समत्तदंसी—समस्तदर्शी (केवलज्ञानी)
सम्मत्तदंसी—सम्यक्त्वदर्शी (सम्यग्दृष्टि)
प्रसंगानुसार तीनों ही अर्थ अलग-अलग ढंग से सार्थकता सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार एक पद है— तम्हाऽति विज्जो[1]

यहाँ अतिविज्ज—मान लेने पर अर्थ होता है—अतिविद (विशिष्ट विद्वान्) यदि तिविज्ज पद मान लिया जाय तो अर्थ होगा—त्रिविद्य (तीन विद्याओं का ज्ञाता)।

'विहुमये'[2] पद के दो पाठान्तर चूर्णि में मिलते हैं—विहुएहे, विहुवहे,—तीनों के ही भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं।

चूर्णि में इस प्रकार के अनेक पाठान्तर हैं जो आगम की प्राचीन अर्थ परम्परा का बोध कराते हैं। विद्वान् वृत्तिकार आचार्य ने इन भिन्न-भिन्न अर्थों पर अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है, जो शब्दशास्त्रीय ज्ञान का रोचक रूप उपस्थित करते हैं।

प्रस्तुत विवेचन में हमने शब्द के विभिन्न अर्थों पर दृष्टि-क्षेप करते हुए प्रसंग के साथ जिस अर्थ की संगति बैठती है, उस पर अपना विनम्र मत भी प्रस्तुत किया है।

हिन्दी व्याख्याएँ प्रायः टीका का अनुसरण करती है। उनमें निर्युक्ति व चूर्णि के विविध अर्थों पर विचार कम ही किया गया है। मुनि श्री नथमलजी ने लीक से हटकर कुछ नया चिन्तन अवश्य दिया है, जो प्रशंसनीय है। फिर भी आचारांग के अर्थ-बोध में स्वतन्त्र चिन्तन व व्यापक अध्ययन-अनुशीलन की स्पष्ट अपेक्षा व अवकाश है।

हमारे सामने आचारांग पर किए गए अनुशीलन की बहुत-सी सामग्री विद्यमान है। अब तक प्राप्त सभी सामग्री का सूक्ष्म अवलोकन कर प्राचीन आचार्यों के चिन्तन का सार तथा वर्तमान सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता पर हमने विचार किया है।

मूलपाठ

इस सम्पादन का मूलपाठ हमने मुनि श्री जम्बूविजयजी सम्पादित प्रति से लिया है।[3] आचारांग सूत्र के अब तक प्रकाशित समस्त संस्करणों में मूलपाठ की दृष्टि से यह संस्करण सर्वाधिक शुद्ध व प्रामाणिक प्रतीत होता है। यद्यपि इसमें भी कुछ स्थानों पर संशोधन की आवश्यकता अनुभव की गयी है। पदच्छेद की दृष्टि से इसे पूर्ण आधुनिक सम्पादन नहीं कहा जा सकता।

अर्थ-बोध को सुगम करने की दृष्टि से हमने कहीं-कहीं पर पदच्छेद (नया पेरा) तथा श्रुति-परिवर्तन किया है, जैसे अधियास, अहियास आदि। कहीं-कहीं पर पाठान्तर में अंकित पाठ अधिक संगत लगता है, अतः हमने पाठान्तर को मूल स्थान पर व मूल पाठ को पाठान्तर में रखने का स्व-विवेक निर्णय लिया है। फिर भी हमारा मान्य पाठ वही रहा है। चूर्णि के पाठभेद व अर्थभेद भी इसी प्रति के आधार पर लिए गए हैं।

विवेचन-सहायक-ग्रन्थ

प्रायः आगम पाठों का शब्दशः अनुवाद करने पर भी उनका अर्थबोध हो जाता है, किन्तु आचारांग (प्रथमश्रुतस्कंध) के विषय में ऐसा नहीं है। इसके वाक्य, पद आदि शाब्दिक रचना की दृष्टि से अपूर्ण से प्रतीत होते हैं, अतः प्रत्येक पद का पूर्व तथा अग्रिम पद के साथ अर्थ-सम्बन्ध जोड़कर ही उनका अर्थ व विवेचन पूर्ण किया जा सकता है। इस कारण मूल का अनुवाद करते समय कोष्ठकों [ ] में सम्बन्ध जोड़ने वाला अर्थ देते हुए उसका अनुवाद करना पड़ा है, तभी वह योग्य अर्थ का बोधक बन सका है।

अनुवाद व विवेचन करते समय हमने निर्युक्ति, चूर्णि एवं टीका-तीनों के परिशीलन के साथ भाव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रयत्न यही रहा है कि अर्थ अधिक से अधिक मूलग्राही, सरल और युक्तिसंगत हो।

---

१ सूत्र ११२।   २ सूत्र ११६।   ३ महावीर विद्यालय, बम्बई संस्करण

अनेक शब्दों के गूढ़ अर्थ का उद्घाटन करने के लिए चूर्णि टीका दोनों के सन्दर्भ देते हुए शब्दकोश तथा अन्य आगमों के सन्दर्भ भी इंगित किये गए हैं। कहीं-कहीं चूर्णि व टीका के अर्थों में भिन्नता भी है, वहाँ विषय की संगति का ध्यान रखकर उसका अर्थ दिया गया है। फिर भी प्रायः सभी मतान्तरों का प्रामाणिकता के साथ उल्लेख अवश्य किया है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अनेक कठिन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ करने में निशीथचूर्णि व चूर्णि-भाष्य तथा बृहत्कल्पभाष्य आदि का भी आधार लिया गया है।

हमारा प्रयत्न यही रहा है कि प्रत्येक पाठ का अर्थबोध—स्पष्ट, प्रसंगानुसार भावों का उद्घाटन करता हुआ अन्य अर्थों पर चिन्तन करने की प्रेरणा भी जागृत करता जाए।

कभी-कभी शब्द प्रसंगानुसार अपना अर्थ बदलते रहते हैं। जैसे—'सत्थं'[1], 'गुण'[2] एवं 'भगवान'[3] आदि। आगमों में प्रसंगानुसार इनके विभिन्न अर्थ होते हैं, उनका विश्लेषण करके मूल भावों का उद्घाटन कराने वाला अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

पाठान्तर व टिप्पण—चूर्णि में पाठान्तरों की प्राचीन परम्परा सुरक्षित होती है। जो पाठान्तर नया अर्थ उद्घाटित करते हैं या अर्थ की प्राचीन परम्परा का बोध कराते हैं, ऐसे पाठान्तरों को टिप्पण में उल्लिखित किया गया है। चूर्णि में विशेष शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं, जो इतिहास व संस्कृति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। उन चूर्णिगत अर्थों का मूलपाठ के साथ टिप्पण में विवरण दिया गया है।

अब तक के प्राय सभी संस्करणों में टिप्पण आदि प्राकृत-संस्कृत में ही दिए जाने की परिपाटी देखने में आती है। इससे हिन्दी भाषी पाठक उन टिप्पणों के आशय समझने से वंचित ही रह जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण आगम ज्ञान व उसकी प्राचीन अर्थ-परम्परा से जन साधारण को परिचित कराना रहा है, अत प्राय सभी टिप्पणों के साथ उनका हिन्दी-अनुवाद भी देने का प्रयत्न किया है। यह कार्य काफी श्रमसाध्य रहा, पर पाठकों को अधिक लाभ मिले इसलिए आवश्यक व उपयोगी श्रम भी किया है।

इसमें चार परिशिष्ट भी दिए गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में 'जाव' शब्द से सूचित मूल सन्दर्भ वाले सूत्र तथा ग्राह्य सूत्रों की सूची, द्वितीय में विशिष्ट शब्द-सूची तथा तृतीय परिशिष्ट में गाथाओं की अकारादि सूची भी दी गयी है। चौथे परिशिष्ट में मुख्य रूप में प्रयुक्त सन्दर्भ ग्रन्थों की संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक सूची दी गयी है।

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज का मार्गदर्शन, आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' की महत्वपूर्ण सूचनाएँ तथा विद्वद्वरेण्य श्रीयुत शोभाचन्दजी भारिल्ल की युक्ति पुरस्सर परिष्कारक दृष्टि आदि इस सम्पादन, विवेचन को सुन्दर, सुबोध तथा प्रामाणिक बनाने में उपयोगी रहे हैं। अत उन सब का तथा प्राचीन मनीषी आचार्यों, सहयोगी ग्रन्थकारों, सम्पादकों आदि के प्रति पूर्ण विनम्रता के साथ कृतज्ञभाव व्यक्त करता हूँ।

इस महत्वपूर्ण कार्य को सुन्दर रूप में शीघ्र सम्पन्न करने में मुनि श्री नेमीचन्दजी म० का मार्गदर्शन तथा स्नेहपूर्ण सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

यद्यपि यह गुरुतर कार्य सुदीर्घ चिन्तन अध्ययन, तथा समय सापेक्ष है, फिर भी अहर्निश के सतत प्रयत्न व युवाचार्य श्री की उत्साहवर्धक प्रेरणाओं से मात्र चार मास में ही इसे सम्पन्न कर पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया है।

विश्वास है, यह अब तक के सभी संस्करणों से कुछ भिन्न, कुछ नवीन और काफी सरल व विशेष अर्थ बोध प्रगट करने वाला सिद्ध होगा। सुज्ञ पाठक इसे सुरुचि पूर्वक पढ़ेंगे—इसी आशा के साथ।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

---

१. देखें पृष्ठ ७। २. पृष्ठ २५। ३. पृष्ठ ५७।

आचारांग सूत्र प्रकाशन में विशिष्ट सहयोगी

श्रीमान सायरमल जी व श्रीमान जेठमल जी चोरड़िया

[संक्षिप्त परिचय]

एक उक्ति प्रसिद्ध है—"ज्ञानस्य फलं विरति"—ज्ञान का सुफल है—वैराग्य। वैसे ही एक सूक्ति है—"वित्तस्य फलं वितरण"—धन का सुफल है—दान ! पात्र में, योग्य कार्य में अर्थ व्यय करना, धन का सदुपयोग है।

नोखा (चांदावतों का) का चोरड़िया परिवार इस सूक्ति का आदर्श उदाहरण है। मद्रास एवं बैंगलूर आदि क्षेत्रों में बसा, यह मरुधरा का दानवीर परिवार आज समाज-सेवा, शिक्षा, चिकित्सा, साहित्य-प्रसार, राष्ट्रीय सेवा आदि विभिन्न कार्यों मे मुक्त मन से और मुक्त हाथ से उपार्जित लक्ष्मी का सदुपयोग करके यशोभागी बन रहा है।

नागोर जिला तथा मेड़ता तहसील के अन्तर्गत चांदावतों का नोखा एक छोटा किन्तु सुरम्य ग्राम है। इस ग्राम में चोरड़िया, बोथरा व ललवाणी परिवार रहते हैं। प्रायः सभी परिवार व्यापार-कुशल हैं, सम्पन्न हैं। चोरड़िया परिवार के घर इस ग्राम में अधिक हैं।

चोरड़िया परिवार के पूर्वजों में श्री उदयचन्द जी पूर्व-पुरुष हुए। उनके तीन पुत्र हुए—श्री हरकचन्द जी, श्री राजमल जी व श्री चान्दमल जी। श्री हरकचन्द जी के एक पुत्र थे श्री गणेशमल जी।

श्री राजमल जी के छः पुत्र हुए—श्री गुमानमल जी, श्री मांगीलाल जी, श्री दीपचन्द जी, श्री चंपालाल जी, श्री चन्दनमल जी, श्री फूलचन्द जी।

श्रीमान् राजमल जी अब इस संसार में नहीं रहे। उनका पुत्र-परिवार धर्मनिष्ठ है, सम्पन्न है।

श्री राजमल जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गुमानमल जी मद्रास जैन-समाज के एक श्रावकरत्न हैं। त्याग-वृत्ति, सेवा-भावना, उदारता, साधर्मि-वत्सलता आदि गुणों से आपका जीवन चमक रहा है।

श्री गणेशमल जी जब छोटे थे, तभी उनके पिता श्री हरकचन्द जी का देहान्त हो गया। माता श्री रूपी बाई ने ही गणेशमल जी का पालन-पोषण व शिक्षण आदि कराकर उन्हें योग्य बनाया। श्री रूपी बाई बड़ी हिम्मत वाली बहादुर महिला थीं, विपरीत परिस्थितियों मे भी उन्होंने धर्म-ध्यान, तपस्या आदि के साथ पुत्र-पौत्रों का पालन व सुसंस्कार प्रदान करने में बड़ी निपुणता दिखायी।

श्री गणेशमल जी राजमल जी का पिता के तुल्य ही आदर व सम्मान करते तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे।

श्री गणेशमल जी की पत्नी का नाम सुन्दर बाई था। सुन्दर बाई बहुत सरल व भद्र स्वभाव की धर्मशीला श्राविका थीं। अभी-अभी आपका स्वर्गवास हो गया।

श्री गणेशमल जी के दस पुत्र एवं एक पुत्री हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—श्री जोगीलाल जी, श्री पारसमल जी, श्री अमरचन्द जी, श्री मदनलाल जी, श्री सायरमल जी, श्री पुखराज जी, श्री जेठ-

मल जी, श्री सम्पतराज जी, श्री मगलचंद जी व श्री भूरमल जी। पुत्री का नाम लाडकंवर बाई है। श्री गणेशमल जी ने अपने सभी पुत्रों को काम पर लगाया। वे साठ वर्ष की अवस्था में दिवंगत हो गए।

सभी भाइयों का व्यवसाय अलग अलग है। सभी हिलमिलकर रहते हैं। सभी सज्जन धर्मनिष्ठ हैं।

तीसरे भाई श्री अमरचन्द जी का देहान्त हो गया है।

श्री सायरमल जी पाँचवें नम्बर के भाई हैं और श्री जेठमल जी सातवें नम्बर के। यद्यपि श्री सायरमल जी पांचवे नम्बर के भाई हैं, फिर भी उनसे बड़े व छोटे सभी भाई उनको पिता के सदृश सम्मान देते हैं और वे स्वयं भी सभी भाइयों के साथ अत्यन्त वत्सलता व स्नेहपूर्ण व्यवहार रखते हैं।

श्री सायरमल जी व श्री जेठमल जी मे परस्पर बहुत अधिक प्रेम है। जो सायरमल जी हैं, वही जेठमल जी और जो जेठमल जी हैं, वही सायरमल जी। दोनों की जोड़ी बड़ी अनूठी।

श्री जेठमल जी श्री सायरमल जी के बहुत बड़े सहयोगी व आज्ञाकारी भाई हैं। दोनों भाई धार्मिक व सामाजिक कामो मे सदा सतत अभिरुचि रखने वाले हैं।

समाज-सेवा, धार्मिक-उत्सव, दान आदि कार्यों में दोनों भाई सदा अग्रसर रहते हैं।

आपने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में मेड़ता रोड मे एक देशी औषधालय बनाया है जिसमें प्रति-मास सैकड़ों रोगी उपचार का लाभ प्राप्त करते हैं। नोखा मे आपका एक कृषि फार्म भी है।

आपके हृदय मे जीव-दया के प्रति बहुत गहरी लगन है। यही कारण है कि आपने अपने कृषि फार्म के बाहर पशुओंके पानी पीने की व्यवस्था सदा के लिए बना रखी है।

वि० सं० २०३० मे उपप्रवर्तक पूज्य स्वामी जी श्री ब्रजलाल जी म० सा० प० र० श्री मधुकर मुनि जी म० सा० व मुनि श्री विनयकुमार जी (भीम) का वर्षावास नोखा मे हुआ था। वर्षावास की स्मृति मे श्री वर्धमान जैन सेवा समिति का गठन किया गया। यह सस्था परमार्थ का काम कर रही है। आप इस सस्था के स्तम्भ सदस्य हैं और समय-समय पर अर्थ आदि का सहयोग देकर उक्त सस्था को सुदृढ़ बनाते रहते हैं।

श्री सायरमल जी व श्री जेठमल जी व्यवसाय की दृष्टि से पृथक-पृथक क्षेत्रों मे रहते हैं। फिर भी आप दोनों पारस्परिक व्यवहार की दृष्टि में एक हैं।

श्री सायरमल जी का व्यवसाय-क्षेत्र मद्रास है। आपकी कपड़े की दुकान है, फर्म का नाम है—**चोरड़िया फेन्सी स्टोर।**

श्री जेठमल जी का व्यवसाय-क्षेत्र है—बैंगलौर 'महावीर ड्रग हाउस' के नाम से आपकी एक अंग्रेजी दवाइयो की बहुत बड़ी दुकान है। दक्षिण भारत मे अंग्रेजी दवाइयों के वितरण मे इस दूकान का सबसे पहला नम्बर है। श्रीमान जेठमल जी बैंगलोर मे रहते हैं। बगलौर में श्री जेठमलजी की बड़ी अच्छी प्रतिष्ठा है। आप औषधि व्यावसायिक एसोसियेशन के जनरल सेक्रेट्री हैं। अखिल भारत औषधि व्यवसाय एसोसियेशन के आप सहमंत्री भी हैं। बगलौर श्री सघ के ट्रस्टी हैं। बगलौर युवक जैन परिषद के अध्यक्ष हैं। बगलौर सिटी स्थानक के उपाध्यक्ष हैं।

श्री जेठमल जी के तीन पुत्र हैं और एक पुत्री। पुत्रों के नाम—श्री महावीरचन्द, श्री प्रेमचन्द, श्री अशोक कुमार। पुत्री का नाम है—स्नेहलता।

सभी पुत्र ग्रेजुएट हैं—सुयोग्य हैं। श्री जेठमल जी के कार्यभार को सम्भालने वाले हैं।

श्री राजमल जी का समस्त परिवार व श्री गणेशमल जी का समस्त परिवार आचार्य श्री जयमल जी महाराज की सम्प्रदाय का अनुयायी है और स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव जी श्री हजारीमल जी म० सा०

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारी समिति)

प्रस्तावना

आगम का महत्त्व

जैन आगम साहित्य का प्राचीन भारतीय साहित्य में अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर-देह से ही विशाल व व्यापक नहीं है अपितु ज्ञान और विज्ञान का, न्याय और नीति का, आचार और विचार का, धर्म और दर्शन का, अध्यात्म और अनुभव का अनुपम एवं अक्षय कोष है। यदि हम भारतीय-चिन्तन में से कुछ क्षणों के लिए जैन आगम-साहित्य को पृथक करने की कल्पना करें तो भारतीय-साहित्य की जो आध्यात्मिक गरिमा तथा दिव्य और भव्य ज्ञान की चमक-दमक है, वह एक प्रकार से धुंधली प्रतीत होगी और ऐसा परिज्ञात होगा कि हम बहुत बड़ी निधि से वंचित हो जायेंगे।

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म में जो स्थान 'अवेस्ता' का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाईबिल का है इस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम साहित्य का है। वेद अनेक ऋषियों के विमल विचारों का सकलन हैं, वे उनके विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं किन्तु जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक क्रमश भगवान महावीर और तथागत बुद्ध की वाणी और विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आगम की परिभाषा

आगम शब्द की आचार्यों ने विभिन्न परिभाषाएँ की हैं। आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि जिस से पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो[1] वह आगम है। अन्य आचार्य का अभिमत है जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है।[2] भगवती[3] अनुयोगद्वार[4] और स्थानांग[5] में आगम शब्द शास्त्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार भेद हैं। आगम के लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किये हैं। उसमें 'महाभारत' 'रामायण' प्रभृति ग्रन्थों को लौकिक आगम में गिना है और आचारांग, सूत्रकृतांग प्रभृति आगमों को लोकोत्तर आगम कहा गया है।

जैन दृष्टि से जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वे जिन तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं, उनका तत्व चिन्तन, उपदेश और उनकी विमल-वाणी आगम है।[6] उसमें वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की किंचित मात्र भी संभावना नहीं रहती और न पूर्वापर विरोध या युक्तिबाध ही होता है। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है-"तप, नियम, ज्ञानरूप वृक्ष पर आरूढ होकर अनन्त ज्ञानी

---

१. (क) आवश्यक सूत्र मलयगिरि वृत्ति। (ख)—नन्दी सूत्र वृत्ति।

२. आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम —रत्नाकरावतारिका वृत्ति।

३. भगवती सूत्र ५।३।१९२।

४. अनुयोगद्वार सूत्र

५. स्थानाङ्ग सूत्र ३३८-२२८

६. (क) अनुयोग द्वार सूत्र—४२, (ख)—नन्दीसूत्र सूत्र—४०-४१, (ग)—बृहत्कल्प भाष्य गाथा—८८

केवली भगवान् भव्य-आत्माओं के विबोध के लिये ज्ञान-कुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट में उन सभी कुसुमों को झेलकर प्रवचन-माला गूंथते हैं।[1]

तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं।[2] अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचक ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर प्रणीत कहा है।[3] प्रबुद्ध पाठकों को यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं[4]।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्त्व क्या है? उत्तर में तीर्थंकर "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी के आधार पर जिस आगम साहित्य का निर्माण होता है वह आगम साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में विश्रुत होता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अंगबाह्य हैं।[5] द्वादशांगी त्रिपदी से उद्भूत है, इसीलिये वह गणधरकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अंग नहीं होतीं, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों वे अंगबाह्य ही कहलायेंगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं या कहते हैं उसमें किञ्चित् मात्र भी विरोध नहीं होता।

आचार्य संघदासगणी का अभिमत है कि जो बात तीर्थंकर कह सकते हैं उसको श्रुतकेवली भी उसी रूप में कह सकते हैं।[6] दोनों में इतना ही अन्तर है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, तो श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं। उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं कि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।[7]

अंगप्रविष्ट: अंग बाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि 'अंगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाया हुआ हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के द्वारा समाधान किया हुआ हो और अंगबाह्य-श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।[8]

समवायांग और अनुयोगद्वार में केवल द्वादशांगी का निरूपण हुआ है, पर देववाचक ने नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये हैं। साथ ही अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त,

---

१ आवश्यक निर्युक्ति गाथा ८९, ९० ।

२. (क)—आवश्यक निर्युक्ति गाथा—१९२ । (ख)—धवला भाग—१ :—पृष्ठ ६४ से ७२ ।

३. नन्दीसूत्र सूत्र—४०

४. (क)—विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५० (ख)—बृहत्कल्पभाष्य—१४४ (ग)—तत्त्वार्थभाष्य १—२० । (घ)—सर्वार्थसिद्धि—१—२० ।

५. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति पत्र ४८ ।

६ बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९६३ से ९६६ ।

७ बृहत्कल्पभाष्य गाथा १३२ ।

८. गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्क-वागरणाओ वा ।
धुव-चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥ —विशेषावश्यक भाष्य गाथा ५५२ ।

कालिक और उत्कालिक इन आगम साहित्य की शाखा व प्रशाखाओं का भी शब्दचित्र प्रस्तुत किया है।[1] उसके पश्चात्वर्ती साहित्य मे अग-उपाग-मूल और छेद के रूप मे आगमों का विभाग किया गया है। विशेष जिज्ञासुओ को मेरे द्वारा लिखित "जैन आगम साहित्य: मनन और मीमांसा" ग्रन्थ अवलोकनार्थ नम्र सूचनाहै।

चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो और चाहे दिगम्बर परम्परा हो, अगप्रविष्ट आगम साहित्य मे द्वादशागी का निरूपण किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. आचारांग	७ उपासकदशा
२. सूत्रकृताग	८. अन्तकृत्दशा
३. स्थानांग	९ अनुत्तरोपपातिकदशा
४ समवायाग	१० प्रश्नव्याकरण
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	११. विपाक
६. ज्ञाता धर्मकथा	१२. दृष्टिवाद

दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से अगसाहित्य विच्छिन्न हो चुका है, केवल दृष्टिवाद का कुछ अश अवशेष है जो षट्खण्डागम के रूप मे आज भी विद्यमान है। पर श्वेताम्बर दृष्टि से पूर्व साहित्य विच्छिन्न हो गया है, जो दृष्टिवाद का एक विभाग था। पूर्व साहित्य मे से निर्यूढ आगम आज भी विद्यमान हैं। जैसे आचारचूला[2], दशवैकालिक[3], निशीथ[4], दशाश्रुतस्कन्ध[5], बृहत्कल्प[6], व्यवहार[7], उत्तराध्ययन का परीषह अध्ययन[8] आदि। दशवैकालिक के निर्यूहक आचार्य शय्यम्भव हैं और शेष आगमो के निर्यूहक भद्रबाहु स्वामी हैं जो श्रुतकेवली के रूप मे विश्रुत हैं। आगम विच्छिन्न होने का मूल कारण भगवान् महावीर के पश्चात् होने वाले दुष्काल आदि रहे हैं, क्योकि उस समय आगम लेखन की परम्परा नहीं थी। आगम लेखन को दोषरूप माना जाता था। वर्तमान मे जो आगम पुस्तक रूप में उपलब्ध हो रहे हैं, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। जिनका समय वीर निर्वाण की दशवी शताब्दी है।

आचारांग का महत्व

अंग साहित्य मे आचाराग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योकि सघ-व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। श्रमण जीवन की साधना का जो मार्मिक विवेचन आचाराग मे उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। आचारांग निर्युक्ति मे आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है—मुक्ति का अव्याबाध सुख सम्प्राप्त करने का मूल आधार है। अंगों का सार तत्त्व आचार में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधार शिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की, अंग सूत्रो का सार आचार है तो आचार का सार क्या है? आचार्य ने समाधान की भाषा मे कहा—आचार का सार अनुयोगार्थ है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का

---

१. नन्दीसूत्र सूत्र-९ से ११९।
२ आचाराग वृत्ति-२९०।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा १६ से १८।
४. (क) निशीथभाष्य-६५००, (ख) पंचकल्पचूर्णी पत्र-१।
५. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
६ पचकल्पभाष्य गाथा-११।
७. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा-१ पत्र-१।
८ उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा ६९।

सार सम्यक् चारित्र और सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है; निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है।[1] इस प्रकार आचार मुक्तिमहल मे प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्त काल का कर्म-मल छँट जाता है।

तीर्थंकर प्रभु तीर्थ-प्रवर्तन के प्रारम्भ मे आचाराग के अर्थ का प्ररूपण करते हैं और गणधर उसी क्रम से सूत्र की सरचना करते हैं। अत अतीत काल मे प्रस्तुत आगम का अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। आचाराग का अध्ययन किये बिना सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य का अध्ययन नहीं किया जा सकता। था।[2] जिनदास महत्तर ने लिखा है आचाराग का अध्ययन करने के बाद ही धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग, और द्रव्यानुयोग पढ़ना चाहिए।[3] यदि कोई साधक आचाराग को बिना पढ़े अन्य आगम-साहित्य का अध्ययन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4] व्यवहारभाष्य मे वर्णन है कि आचाराग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से नवदीक्षित श्रमण की उपस्थापना की जाती थी और उसके अध्ययन से ही श्रमण भिक्षा लाने के लिए योग्य बनता था।[5] आचारांग का अध्ययन किये बिना कोई भी श्रमण आचार्य जैसे गौरव-गरिमायुक्त पद को प्राप्त नही कर सकता था।[6] गणि बनने के लिए आचार-धर होना आवश्यक है, आचारांग को जैन दर्शन का वेद माना है। भद्रबाहु आदि ने आचारांग के महत्व के सम्बन्ध मे जो अपने मौलिक विचार व्यक्त किये हैं वे आचाराग की गौरव-गरिमा का दिग्दर्शन है।

आचारांग की प्राथमिकता ?

प्राचीन प्रमाणो के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशागी मे आचाराग प्रथम है, पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से ? इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत है। नन्दी चूर्णी मे आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जब तीर्थंकर भगवान् तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं उस समय वे पूर्वगत सूत्र का अर्थ सर्वप्रथम कहते है। एतदर्थ ही वह पूर्व कहलाता है। किन्तु जब सूत्र की रचना करते हैं तो आचाराग-सूत्रकृताग आदि आगमों की रचना करते हैं और उसी तरह वे स्थापना भी करते हैं। अतः अर्थ की दृष्टि को पूर्व सर्वप्रथम हैं, किन्तु सूत्र-रचना और स्थापना की दृष्टि से आचारांग सर्वप्रथम है।[7] इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र[8] तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।[9]

आचाराग चूर्णी मे लिखा है कि जितने भी तीर्थंकर होते हैं वे आचाराग का अर्थ सर्वप्रथम कहते

---

१. अंगाण किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ?
अणुओगत्थो सारो, तस्स वि य परूवणा सारो ॥
सारो परूवणाए चरणं तस्स वि य होइ निव्वाणं ।
निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणाविति ॥ —आचाराग निर्युक्ति—गा० १६।१७

२. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२।

३. निशीथ चूर्णी भाग ४ पृष्ठ २५२। ४ निशीथ १६—१

५. व्यवहार भाष्य ३। १७४—१७५।

६. आयारम्मि अहीए ज नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥ —आचाराग निर्युक्ति गाथा० १०

७. आचाराग निर्युक्ति गाथा० ८

८. (क)—नन्दी सूत्र वृत्ति पृष्ठ ८८
(ख)—नन्दी सूत्र चूर्णी पृष्ठ ७५

९. समवायाग वृत्ति पृष्ठ १३०-१३१

हैं और उसके बाद ग्यारह अंगों का अर्थ कहते हैं। और उसी क्रम से गणधर भी सूत्र की रचना करते हैं।[1]

आचार्य शीलाङ्क का भी यही अभिमत है कि तीर्थंकर आचारांग के अर्थ का प्ररूपण ही सर्वप्रथम करते हैं। और गणधर भी उसी क्रम से स्थापना करते हैं।[2] समवायांगवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने यह भी लिखा है कि आचारांग-सूत्र स्थापना की दृष्टि से प्रथम है किन्तु रचना की दृष्टि से वह बारहवाँ है।[3]

पूर्व साहित्य से अंग नियूंढ है इस दृष्टि से आचारांग को स्थापना की दृष्टि से प्रथम माना है पर रचना क्रम की दृष्टि से नहीं। आचार्य हेमचन्द्र[4] और गुणचन्द्र[5] ने, जिन्होंने भगवान् महावीर के जीवन की पवित्र गाथाएँ अंकित की हैं, उन्होंने लिखा है कि भगवान् महावीर ने गौतम प्रभृति गणधरों को सर्वप्रथम त्रिपदी का ज्ञान प्रदान किया। और उन्होंने त्रिपदी से प्रथम चौदह पूर्वों की रचना की और उस के बाद द्वादशांगी की रचना की।

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अंगों से पहले पूर्वों की रचना हुयी तो द्वादशांगी की रचना में आचारांग का प्रथम स्थान किस प्रकार है? समाधान है; पूर्वों की रचना प्रथम होने पर भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान मानने पर बाधा नहीं आती है। कारण कि बारहवाँ अंग दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग, चूलिका ये पाँच विभाग हैं। उस में से एक विभाग पूर्व है।[6] सर्वप्रथम गणधरों ने पूर्वों की रचना की, पर बारहवें अंग दृष्टिवाद का बहुत बड़े हिस्से का ग्रन्थन तो आचारांग आदि के क्रम से बारहवें स्थान पर ही हुआ है। ऐसा कहीं पर भी उल्लेख नहीं है कि दृष्टिवाद का ग्रथन सर्वप्रथम किया हो, इसलिये निर्युक्तिकार का यह कथन कि आचारांग रचना व स्थापना की दृष्टि से प्रथम है, युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

आचारांग की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए चूर्णिकार[7] और वृत्तिकार[8] ने लिखा है कि अतीत काल में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सभी ने सर्वप्रथम आचारांग का उपदेश दिया, वर्तमान में जो तीर्थंकर महाविदेह क्षेत्र में विराजित हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और भविष्यकाल में जितने भी तीर्थंकर होंगे वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे।

आचारांग को सर्वप्रथम स्थान देने का कारण यह है कि संघ-व्यवस्था की दृष्टि से आचार-संहिता की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। जब तक आचार-संहिता की स्पष्ट रूप रेखा न हो वहाँ तक सम्यग् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने अंग साहित्य में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के दिल को लुभाते हैं, मन को मोहते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों का अर्थ रूपी शरीर

---

१. सव्वे तित्थगरा वि आयारस्स अत्थं पढमं आइक्खन्ति, ततो सेसगाणं एक्कारसण्हं अंगाणं ताएच्चेव परिवाडीए गणहरा वि सुत्तं गंथंति। इयाणि पढमगंगंति किं निमित्तं आयारो पढमं ठवियो।

—आचारांग चूर्णी

२. आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ६।

३. समवायांग वृत्ति, पृष्ठ १०१

४. त्रिषष्ठि० १०।५।१६५

५. महावीरचरियं ८।२५७ श्री गुणचन्द्राचार्य ! देवभद्र

६. अभिधान चिन्तामणि १६०!

७. आचारांग चूर्णी, पृष्ठ ३

८. आचारांग शीलांक वृत्ति, पृष्ठ ६।

विराट् है, जब हम आचारांग के व्याख्या-साहित्य को पढ़ते हैं तो स्पष्ट परिज्ञात होता है कि सूत्रीय शब्द-बिन्दु में अर्थ-सिन्धु समाया हुआ है। एक-एक सूत्र पर, और एक-एक शब्द पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है। इतना चिन्तन किया गया है, कि ज्ञान की निर्मल गंगा बहती हुई प्रतीत होती है। श्रमणाचार का सूक्ष्म विवेचन और इतना स्पष्ट चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने कहा है "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है, और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है। आचारांग में बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के आचार का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

आचारांग का विषय

पूर्व पंक्तियों में यह बताया है कि आचारांग का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "आचार" है। समवायांग[1] और नन्दीसूत्र[2] में आचारांग में आये हुए विषय का संक्षेप में निरूपण इस प्रकार है—

आचार-गोचर, विनय, वैनयिक, (विनय का फल) उत्थितासन, निषण्णासन और शयितासन, गमन, चंक्रमण, अशन आदि की मात्रा, स्वाध्याय प्रभृति में योग नियुञ्जन, भाषा समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्तपान, उद्गम-उत्पात, एषणा प्रभृति की शुद्धि, शुद्धाशुद्ध के ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि।

आचारांग-निर्युक्ति में[3] आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों का सार संक्षेप में इस प्रकार है।

(१) जीव-संयम, जीवों के अस्तित्व का प्रतिपादन और उनकी हिंसा का परित्याग।

(२) किन कार्यों के करने से जीव कर्मों से आबद्ध होता है और किस प्रकार की साधना करने से जीव कर्मों से मुक्त होता है।

(३) श्रमण को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग समुपस्थित होने पर सदा समभाव में रहकर उन उपसर्गों को सहन करना चाहिए।

(४) दूसरे साधकों के पास अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि लब्धियों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य को निहार कर साधक सम्यक्त्व से विचलित न हों।

(५) इस विराट् विश्व में जितने भी पदार्थ हैं वे निस्सार हैं, केवल सम्यक्त्व रत्न ही सार रूप हैं। उसे प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करें।

(६) सद्गुणों को प्राप्त करने के पश्चात् श्रमणों को किसी भी पदार्थ में आसक्त बन कर नहीं रहना चाहिये।

(७) संयम साधना करते समय यदि मोह-जन्य उपसर्ग उपस्थित हों तो उसे सम्यक् प्रकार से सहन करना चाहिये। पर साधना से विचलित नहीं होना चाहिये।

(८) सम्पूर्ण गुणों से युक्त अन्तक्रिया के सम्यक् प्रकार से आराधना करनी चाहिये।

(९) जो उत्कृष्ट-संयम-साधना तप-आराधना भगवान् महावीर ने की, उसका प्रतिपादन किया गया है।

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में नौ अध्ययन हैं। चार चूलिकाओं से युक्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सोलह अध्ययन हैं, इस तरह कुल पच्चीस अध्ययन हैं। आचारांग निर्युक्ति में जो अध्ययनों का क्रम निर्दिष्ट

---

१. समवायांग प्रकीर्णक, समवाय सूत्र ८९।
२. नन्दीसूत्र सूत्र ८०।
३. आचारांग निर्युक्ति गाथा ३३, ३४।

है, वह समवायांग के अध्ययन-क्रम से पृथकता लिये हुए है। तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनों का क्रम इस प्रकार है।

आचारांग निर्युक्ति[1]	समवायांग[2]
१. शस्त्रपरिज्ञा	१. शस्त्रपरिज्ञा
२. लोकविजय	२. लोकविजय
३. शीतोष्णीय	३. शीतोष्णीय
४. सम्यक्त्व	४. सम्यक्त्व
५. लोकसार	५. आवंती
६. धुत	६. धुत
७. महापरिज्ञा	७. विमोहायण
८. विमोक्ष	८. उवहाणसुय
९. उवहाणसुय	९ महापरिज्ञा

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में समवायांग के क्रम का ही अनुसरण किया है। पाँचवें अध्ययन के दो नाम प्राप्त होते हैं—लोकसार और आवंती। आचारांग-वृत्ति से यह परिज्ञात होता है कि उन्हें ये दोनों नाम मान्य थे।[3] आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ अध्ययन माना है।[4] और चूर्णिकार तथा वृत्तिकार इन दोनों ने भी आचारांग निर्युक्ति के मत को मान्य किया है।[5] परन्तु स्थानांग[6] समवायांग[7] और प्रशमरति प्रकरण[8] में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवाँ न मानकर नवम अध्ययन माना है।

आवश्यक निर्युक्ति तथा प्रभावकचरित आदि ग्रन्थों के आधार से यह स्पष्ट है कि वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से ही आकाशगामिनीविद्या प्राप्त की थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि वज्रस्वामी के समय तक महापरिज्ञा अध्ययन विद्यमान था। किन्तु आचारांग वृत्तिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन नहीं था। विज्ञों का अभिमत है कि चूर्णिकार के समय महापरिज्ञा अध्ययन अवश्य रहा होगा पर उसके पठन-पाठन का क्रम बन्द कर दिया गया होगा।

आचारांग निर्युक्ति में आठवें अध्ययन का नाम "विमोक्खो" है तो समवायांग में उसका नाम "विमोहायतन" है। आचारांग में चार स्थलों पर "विमोहायतन" शब्द व्यवहृत हुआ है। जिससे प्रस्तुत अध्ययन का नाम "विमोहायतन" रखा है या विमोक्ष की चर्चा होने से विमोक्ष कहा गया हो।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार चूलायें हैं उनमें प्रथम और द्वितीय चूला में सात-सात अध्ययन हैं, तृतीय और चतुर्थ चूला में एक-एक अध्ययन है। चूर्णिकार की दृष्टि से सप्तसप्ततिका यह द्वितीय चूला का चतुर्थ अध्ययन है, और शब्दसप्ततिका यह पाँचवाँ अध्ययन है।

आचारांग सूत्र की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में और आचारांग की शीलांकवृत्ति में तथा प्रशमरति ग्रन्थ में शब्दसप्ततिका के पश्चात् रूपसप्ततिका। इस प्रकार का क्रम सम्प्राप्त होता है।

---

१. आचारांग निर्युक्ति-गाथा-३१, ३२ पृष्ठ ९

२. समवायांग सूत्र प्रकीर्णक, समवाय सूत्र—८९

३. आचारांग वृत्ति पृष्ठ १९६।

४ आचारांग निर्युक्ति गाथा ३१-३० पृष्ठ ९।

५. आचारांग चूर्णी।

६. स्थानांग सूत्र ९।

७ समवायांग सूत्र ८९।

८. प्रशमरति प्रकरण ११४-११७।

गोम्मटसार, धवला, जयधवला, अंगपण्णत्ति, तत्त्वार्थराजवार्तिक आदि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में आचारांग का जो परिचय प्रदान किया गया है उससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग में मन, वचन, काया, भिक्षा, ईर्या, उत्सर्ग, शयनासन और विनय इन आठ प्रकार की शुद्धियों के सम्बन्ध में निरूपण किया गया है। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पूर्ण रूप से यह वर्णन प्राप्त होता है।

आचारांग का पद प्रमान

आचारांगनिर्युक्ति[1] हारिभद्रीयानन्दीवृत्ति[2] नन्दीसूत्रचूर्णि[3] और आचार्य अभयदेव की समवायांगवृत्ति[4] में आचारांग सूत्र का परिमाण १८ हजार पद निर्दिष्ट है। पर, प्रश्न यह है कि पद क्या है? जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण[5] ने पद के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि पद अर्थ का वाचक और द्योतक है। बैठना, बोलना, अश्व वृक्ष आदि पद वाचक कहलाते हैं। प्र, परि, च, वा आदि अव्यय पदों को द्योतक कहा जाता है। पद के नामिक नैपातिक औपसर्गिक आख्यातिक और मिश्र आदि प्रकार हैं। अनुयोगद्वार वृत्ति[6] दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी[7] दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति[8] आचारांग शीलांक वृत्ति[9] म उदाहरण सहित पद का स्वरूप प्रतिपादित किया है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने[10] पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—'अर्थ समाप्ति का नाम पद है।' पर आचारांग आदि में अठारह हजार पद बताये गए हैं। किन्तु पद के परिमाण के सम्बन्ध में परम्परा का अभाव होने से पद का सही स्वरूप जानना कठिन है। प्राचीन टीकाकारों ने भी स्पष्ट रूप से कोई समाधान नहीं किया है।

जयधवला में प्रमाणपद, अर्थपद और मध्यमपद, ये तीन प्रकार बताये हैं। आठ अक्षरों वाला प्रमाण पद है। चार प्रमाण पदों का एक श्लोक या गाथा होती है। जितने अक्षरों से अर्थ का बोध हो वह अर्थपद है। १६३४८३०७८८८ अक्षरों वाला मध्यम पद कहलाता है। जयधवला का अनुसरण ही धवला-गोम्मटसार, अंगपण्णत्ती में हुआ है। प्रस्तुत दृष्टि से आचारांग के अठारह हजार पदों के अक्षरों की संख्या की परिगणना २९४ २६९ ५४१ १९८ ४००० होती है। और अठारह हजार पदों के श्लोकों की संख्या ९१९ ५९२ ३१११ ८७००० बताई गई है।

यह एक ज्वलन्त सत्य है कि जो पद-परिमाण प्रतिपादित किया गया है उस में काल क्रम की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है। वर्तमान में जो आचारांग उपलब्ध है उस में कितनी ही प्रतियों में दो हजार छ सौ चवालीस श्लोक प्राप्त होते हैं तो कितनी ही प्रतियों में दो हजार चार सौ चोपन, तो कितनी प्रतियों में दो हजार पाच सौ चोपन भी मिलते हैं। यदि हम तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के उजाले की भाँति यह ज्ञात हुये बिना नहीं रहेगा कि जैन आगम-साहित्य के साथ ही यह बात नहीं हुयी है किन्तु बौद्ध त्रिपिटक-मज्झिम निकाय, दीघनिकाय, संयुक्त निकाय में जो सूत्र संख्या बताई गई है वह भी वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। वही बात वैदिक-परम्परा मान्य ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पुराण-साहित्य के

---

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा ११।
२. हारिभद्रीया नन्दीवृत्ति पृष्ठ ७६।
३. नन्दीसूत्र चूर्णी पृष्ठ ६२।
४. समवायांग वृत्ति पृष्ठ १०८।
५. विशेषावश्यक भाष्य गाथा १००३, पृष्ठ ४८-६७।
६. अनुयोगद्वार वृत्ति पृष्ठ २४३-२४४।
७. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णी, पृष्ठ ९।
८. दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति १।१
९. आचारांग शीलांकवृत्ति १।१
१०. कर्मग्रन्थ—प्रथम कर्मग्रन्थ गाथा ७।

सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। मैं चाहूँगा कि आगम के मूर्धन्य मनीषी गण इस सम्बन्ध में प्रमाण पुरस्सर तर्कयुक्त समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि समवायाग और नन्दी सूत्र मे आचाराग की जो अठारह हजार पद-सख्या बताई है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध के नव ब्रह्मचर्य अध्ययनो की है, यह बात आचार्य भद्रबाहु और अभयदेवसूरि ने पूर्ण रूप से स्पष्ट की है। यह हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि महापरिज्ञा अध्ययन चूर्णिकार के पश्चात् विच्छिन्न हो गया है। यह सत्य है कि आचार्य शीलाक के पहले उस का विच्छेद हुआ है। ऐसी अनुश्रुति है कि महापरिज्ञा अध्ययन मे ऐसे अनेक चामत्कारिक मन्त्र आदि विद्याएँ थीं जिस के कारण गम्भीर पात्र के अभाव में उस का पठन-पाठन बन्द कर दिया गया। पर, प्रस्तुत अनुश्रुति के पीछे ऐतिहासिक प्रबल-प्रमाण का अभाव है। निर्युक्तिकार का ऐसा अभिमत है कि आचारचूला के सातो अध्ययन महापरिज्ञा के सात उद्देशकों से निर्यूढ किये गये हैं।[1] इससे यह स्पष्ट है कि महापरिज्ञा मे जिन-विषयो पर चिन्तन किया गया उन्हीं विषयों पर सातो अध्ययनो मे चिन्तन-निर्यूढ किया गया हो। मनीषियों का ऐसा भी मानना है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सातो अध्ययन पठन-पाठन में व्यवहृत होने लगे। तब महापरिज्ञा अध्ययन का पठन-पाठन बन्द हो गया होगा अथवा उसके अध्ययन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जाने लगी होगी। जिससे वह विच्छिन्न हुआ।

आचारांग के नाम

आचाराग निर्युक्ति मे आचारांग के दश पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं।[2]

१. आयार—यह आचरणीय का प्रतिपादन करने वाला है। एतदर्थ आचार है।
२. आचाल—यह निविड बंध को आचालित (चलित) करता है अत आचाल है।
३. आगाल—चेतना को सम धरातल मे अवस्थित करता है अत आगाल है।
४. आगर—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों को पैदा करने वाला है अत आगर है।
५. आसास—यह सत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने मे सक्षम हैं, अत आश्वास है।
६ आयरिस—इसमे इतिकर्तव्यता का स्वरूप देख सकते हैं अतः यह आदर्श है।
७. अङ्ग—यह अन्तस्तल मे अहिंसा आदि जो भाव रहे हुए हैं, उनको व्यक्त करता है अत अंग है।
८. आइण्ण—प्रस्तुत आगम मे आचीर्ण धर्म का निरूपण किया गया है अत यह आचीर्ण है।
९. आजाइ—इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है अत. आजाति है।
१०. आमोक्ख—बन्धन-मुक्ति का यह साधन है अतः आमोक्ष है।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने[3] लिखा है कि शिष्यों के अनुग्रहार्थ श्रमणाचार के गुरुतम रहस्यो को स्पष्ट करने के लिये आचारांग की चूलाओं का आचार मे से निर्यूहण किया गया है। किस-किस अध्ययन को कहाँ-कहाँ से निर्यूढ किया गया है उसका उल्लेख आचारांग चूर्णी में[4] भी और आचारांग वृत्ति[5] मे भी प्राप्त होता है। वह तालिका इस प्रकार है

---

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा—२६०
२. आचारांग निर्युक्ति गाथा ७
३. आचाराग निर्युक्ति गाथा ७ से १० तक।
४. आचारांग चूर्णी सूत्र ८७, ८८, ८९, २४०, १६२, १९६, १०२
५. आचाराग वृति पृष्ठ ३१९ से ३२० तक।

निर्यूहण-स्थल आचारांग अध्ययन	उद्देशक	निर्यूढ़ अध्ययन आचार चूला अध्ययन
२	५	१, २, ५, ६, ७
८	२	१, २, ५, ६, ७
५	४	३
६	५	४
७	१–७	१८–४
९		१५
६	२–४	१६

प्रत्याख्यान पूर्व के तृतीय वस्तु का आचार नामक बीसवाँ प्राभृत ।

आचार—प्रकल्प (निशीथ)

आचारांग निर्युक्ति में केवल निर्यूहण स्थल के अध्ययन और उद्देशकों का संकेत किया है। कहीं-कहीं पर चूर्णीकार[1] और वृत्तिकार[2] ने निर्यूहण सूत्रों का भी संकेत किया है।

निर्युक्ति, चूर्णि और वृत्ति में जिन निर्देशों का सूचन किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि आचार चूला आचारांग से उद्धृत नहीं है अपितु आचारांग के अति संक्षिप्त पाठ का विस्तार पूर्वक वर्णन है। प्रस्तुत तथ्य की पुष्टि आचारांग निर्युक्ति से भी होती है।[3] आचाराग्र में जो अग्र शब्द आया है वह वहाँ पर उपकाराग्र के अर्थ में है। आचारांग चूर्णी में उपकाराग्र का अर्थ पूर्वोक्त का विस्तार और अनुक्त का प्रतिपादन करने वाला होता है। आचाराग्र में आचारांग के जिस अर्थ का प्रतिपादन हैं, उस अर्थ का उसमें विस्तार तो है ही साथ ही उसमें अप्रतिपादित अर्थ का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए उसको आचार में प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के रचयिता

आचारांग के प्रथम वाक्य से ही यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस के अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर महावीर थे और सूत्र के रचयिता पंचम गणधर सुधर्मा ! यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भगवान् अर्थ रूप में जब देशना प्रदान करते हैं तो प्रत्येक गणधर अपनी भाषा में सूत्रों का निर्माण करते हैं। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे और नौ गण थे। ग्यारह गणधरों में आठवें और नौवें तथा दसवें और ग्यारहवें गणधरों की वाचनायें सम्मिलित थी जिस के कारण नौ गण कहलाये। भगवान् महावीर के समय इन्द्रभूति और सुधर्मा को छोड़कर शेष गणधरों का निर्वाण हो चुका था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जिस के कारण वर्तमान में जो अंग-साहित्य उपलब्ध है वह सुधर्मा स्वामी की देन है।

आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध है। प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आचार या ब्रह्मचर्य तथा नव ब्रह्मचर्य के नाम उपलब्ध होते है। ब्रह्मचर्य नाम तो है ही ! किन्तु नौ अध्ययन होने से नव ब्रह्मचर्य के नाम से भी वह प्रथम श्रुतस्कन्ध प्रसिद्ध है। विज्ञों की यह स्पष्ट मान्यता है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित हो है किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता के सम्बन्ध मे उनका कहना है कि वह स्थविरकृत है।[4]

---

१. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण १

२. जैन आगम साहित्य-मनन और मीमांसा, पृष्ठ ५२ टिप्पण २

३ आचारांग निर्युक्ति गाथा २८६ ।

४ आचारांग निर्युक्ति गाथा २८७ ।

स्थविर का अर्थ चूर्णिकार ने गणधर किया है[1]। और आचार्य शीलांक ने चतुर्दशपूर्वविद् किया है[2]। किन्तु स्थविर का नाम उल्लिखित नहीं है। यह माना जाता है प्रथम श्रुतस्कन्ध के गम्भीर रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग का अर्थ आचाराग्र मे प्रविभक्त किया।

सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि पाँचों चूलाओं के निर्माता एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग व्यक्ति है? क्योंकि आचारांग निर्युक्ति में स्थविर शब्द का प्रयोग बहुवचन मे हुआ है[3] जिससे यह ज्ञात होता है कि उसके रचयिता अनेक व्यक्ति होने चाहिये। समाधान है कि 'स्थविर' शब्द का बहुवचन मे जो प्रयोग हुआ है वह सम्मान का प्रतीक है। पाँचों की चूलाओं के रचयिता एक ही व्यक्ति हैं।

आचारांग चूर्णि मे वर्णन है कि स्थूलिभद्र की बहन साध्वी यक्षा महाविदेह-क्षेत्र मे भगवान् सीमंधर स्वामी के दर्शनार्थ गयी थीं। लौटते समय भगवान ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन दिये[4]। आचार्य हेमचन्द्र ने[5] परिशिष्ट पर्व मे यक्षा साध्वी के प्रसंग का चित्रण करते हुए लिखा है कि भगवान सीमंधर ने भावना और विमुक्ति, रतिवाक्या (रतिकल्प) और विविक्तचर्या के चार अध्ययन प्रदान किये। संघ ने दो अध्ययन आचारांग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप मे और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप में स्थापित किये। आवश्यक चूर्णि मे दो अध्ययनों का वर्णन है—तो परिशिष्ट-पर्व में चार अध्ययनों का उल्लेख है। आचार्य हेमचन्द्र ने दो अध्ययनो का समर्थन किस आधार से किया है? आचारांग-निर्युक्ति और दशवैकालिक-निर्युक्ति मे प्रस्तुत घटना का कोई संकेत नहीं है। फिर यह आवश्यक-चूर्णि मे किस प्रकार आ गयी यह शोधार्थी के लिये अन्वेषणीय है।

कितने ही निष्ठावान् विज्ञों का अभिमत है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचयिता गणधर सुधर्मा ही है क्योंकि समवायांग और नन्दी मे आचारांग का परिचय है। उससे यह स्पष्ट है कि वह परिशिष्ट के रूप मे बाद मे जोड़ा हुआ नहीं है।

निर्युक्तिकार ने जो आचारांग का पद-परिमाण बताया है वह केवल प्रथम श्रुतस्कन्ध का है। पाँच चूलाओं सहित आचारांग की पद संख्या बहुत अधिक है। निर्युक्तिकार के प्रस्तुत कथन का समर्थन नन्दी चूर्णि और समवायांग वृत्ति में किया गया है। पर एक ज्वलन्त प्रश्न यह है कि आचारांग के समान अन्य आगमों मे भी दो श्रुतस्कन्ध हैं पर उन आगमों मे प्रथम श्रुतस्कन्ध की और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पद संख्या कहीं पर भी अलग-अलग नहीं बतायी है। केवल आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का पद-परिमाण किस आधार से दिया है? इस सम्बन्ध मे निर्युक्तिकार व चूर्णिकार तथा वृत्तिकार मौन हैं। धवला और अंगपण्णत्ति जो दिगम्बर परम्परा के माननीय-ग्रन्थ हैं, इन में आचारांग की पद-संख्या भी श्वेताम्बर ग्रन्थों की तरह अठारह हजार बतायी है। उन्होंने जिन विषयों का निरूपण किया है वे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रतिपादित विषयों के साथ पूर्ण रूप से मिलते हैं।

समवायांग और नन्दी मे, दृष्टिवाद मे चौदह पूर्वों मे चार पूर्वों के अतिरिक्त किसी भी अंग की चूलिकाएँ नहीं बतायी है। जबकि प्रत्येक अंग के श्रुतस्कन्ध, अध्ययन, उद्देशक, पद और अक्षरों तक की संख्या का निरूपण है। वहाँ पर चार पूर्वों की चूलिकायें बतायी हैं किन्तु आचारांग की चूलिकाओं का निर्देश नहीं है। इस से यह स्पष्ट होता है कि चार पूर्वों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम की चूलिकायें नहीं थीं।

---

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२६।
२. आचारांग वृत्ति, पत्र २९०।
३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८७।
४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८८।
५. परिशिष्ट पर्व–९।९७–१०० पृष्ठ–९०।

आगम्य में सकते हैं और पद-रूप में भी । द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अधिकांश भाग पद्य रूप में है । पन्द्रहवें अध्ययन में अठारह पद प्राप्त होते हैं और सोलहवाँ अध्ययन पद्य रूप ही है । वर्तमान में आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में १४६ पद्य उपलब्ध हैं । समवायांग और नन्दीसूत्र में जो आचारांग का परिचय उपलब्ध है उसमें संख्येय वेष्टक और संख्येय श्लोक बताये हैं ।

डाक्टर शूब्रिंग ने आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पदों की तुलना बौद्धपिटक-सुत्तनिपात से की है । आचारांग के पद विविध छन्दों में उपलब्ध होते हैं । उनमें आर्या, जगती, त्रिष्टुप्, वैतालिक अनुष्टुप् श्लोक आदि विविध छन्द हैं । आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम दो चूलिकाएँ पूर्ण गद्य में हैं, तृतीय चूलिका में भगवान् महावीर के गर्भ-जन्म में छ आर्याओं का प्रयोग हुआ है, दीक्षा, शिविका में आसीन होकर प्रयाण करने का वर्णन ग्यारह आर्याओं में है और जिस समय दीक्षा ग्रहण करते हैं उस समय जन-मानस का चित्रण भी दो आर्याओं में किया गया है । महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन अनुष्टुप् छन्दों में किया गया है । चतुर्थ चूलिका में जो पद्य हैं वे उपजाति प्रतीत होते हैं । सुत्तनिपात के आमगन्ध सुत्त में इस तरह के छन्द के प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं ।

आचारांग की भाषा

सामान्य रूप से जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी है, यदि जैन परम्परा का ऐतिहासिक-दृष्टि से चिन्तन करें तो सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट परिज्ञात होगा कि जैन-परम्परा ने भाषा पर इतना बल नहीं दिया है, उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि भाषा ज्ञान से न तो मानव की चित्त-शुद्धि हो सकती है और न आत्म-विकास ही हो सकता है । चित्त-विशुद्धि का मूलकारण सद्विचार है । भाषा विचारों का वाहन है, इसलिए जैन मनीषियों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अन्य प्रान्तीय भाषाओं को अपनाते रहे हैं और उनमें विपुल-साहित्य का भी सृजन करते रहे हैं । यही कारण है आचारांग सूत्र की भाषा-शैली में भी परिवर्तन हुआ है । प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा बहुत ही गठी हुई सूत्रात्मक है तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा कुछ शिथिल और व्यास-प्रधान है ।

यह स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप में परिवर्तन होता आया है । आचार्य हेमचन्द्र ने आगमों की भाषा को आर्ष-प्राकृत कहा है । यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वैदिक परम्परा में ऋषियों के शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया किन्तु अर्थ की सुरक्षा पर उतना बल नहीं दिया गया है ? जिसके फलस्वरूप वेदों के शब्द प्रायः सुरक्षित हैं किन्तु अर्थ की दृष्टि से विज्ञों में पर्याप्त मत-भेद है, वैदिक विज्ञों ने आज दिन तक शब्दों की सुरक्षा के लिए बहुत ही प्रयास किया है पर अर्थ की दृष्टि से कोई विशेष प्रयास नहीं हुआ । पर जैन परम्परा ने शब्द की अपेक्षा अर्थ पर विशेष बल दिया है इस कारण पाठ भेद तो मिलते हैं, किन्तु अर्थ भेद नहीं मिलता । आचारांग सूत्र में भी पाठ भेद की एक लम्बी परम्परा है । विभिन्न प्रतियों में एक ही पाठ के विविध रूप मिलते हैं । विशेष जिज्ञासु शोध कर्ताओं को मुनि जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित आचारांग सूत्र के अवलोकन की मैं प्रेरणा करता हूँ । प्रस्तुत सम्पादन में भी महत्त्वपूर्ण पाठान्तर और उनकी भिन्न अर्थवत्ता का सूचन कर नई दृष्टि दी है । विस्तार-भय से उसकी चर्चा मैं यहाँ नहीं कर रहा हूँ पाठक स्वयं इसे पढ़कर लाभ उठायें । हाँ एक बात और है कि वेद के शब्दों में मन्त्रों का आरोपण किया गया, जिससे वेद के मन्त्र सुरक्षित रह गये । पर जैनागमों में मन्त्र-शक्ति का आरोपण न होने से अर्थ सुरक्षित रहा है, पर शब्द नहीं ।

जैन आगमों की भाषा में परिवर्तन का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि जैन आगम प्रारम्भ में लिखे नहीं गये थे । सुदीर्घकाल तक कण्ठस्थ करने की परम्परा रही । समय-समय पर द्वादश वर्षों के दुष्कालों ने आगम के बहुत अध्याय विस्मृत करा दिये । उनकी संयोजना के लिए अनेक वाचनाएँ हुईं । वीर निर्वाण ९८० में वल्लभीपुर नगर में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों को लिपिबद्ध किया गया । उसके पश्चात् आगमों का निश्चित-रूप स्थिर हो गया ।

दार्शनिक विषय

आचारांग सूत्र में जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्व गर्भित हैं, आचारांग के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। उस युग के अन्य दार्शनिकों के विचार से श्रमण भगवान महावीर की विचारधारा अत्यधिक भिन्न थी। पाली-पिटकों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट है कि भगवान महावीर के समय अन्य अनेक श्रमण परम्पराएँ भी थी। उन श्रमणों की विचारधारा क्रियावादी, अक्रियावादी के रूप में चल रही थी जो कर्म और उसके फल को मानते थे वे क्रियावादी थे। उसे जो नहीं मानते थे वे अक्रियावादी थे। भगवान महावीर और तथागत बुद्ध ये दोनों ही क्रियावादी थे। पर इन दोनों के क्रियावाद में अन्तर था। तथागत बुद्ध ने क्रियावाद को स्वीकार करते हुए भी शाश्वत आत्मवाद को स्वीकार नहीं किया। जबकि भगवान महावीर ने आत्मवाद की मूल भित्ति पर ही क्रियावाद का भव्य-भवन खड़ा किया है। जो आत्मवादी है वह लोकवादी है और जो लोकवादी है, वह कर्मवादी है, जो कर्मवादी है वह क्रियावादी है।[१] इस प्रकार भगवान महावीर का क्रियावाद तथागत बुद्ध से पृथक् है। कर्मवाद को प्रधानता देने के कारण ईश्वर, ब्रह्म आदि से ससार की उत्पत्ति नही मानी गई। सृष्टि अनादि है, अतएव उसका कोई कर्ता नहीं है। भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा—जब तक कर्म है, आरम्भ-समारम्भ है, हिंसा है, तब तक ससार में परिभ्रमण है, कष्ट है।[२]

जब आत्मा कर्म-समारम्भ का पूर्ण रूप से परित्याग करता है, तब उसके संसार-परिभ्रमण की परम्परा रुक जाती है। श्रमण वही है जिसने कर्म-समारम्भ का परित्याग किया है।[३] कर्म-समारम्भ का निषेध करने का मूल कारण यह है इस विराट्-विश्व मे जितने भी जीव हैं उन्हें सुख-प्रिय है, कोई भी जीव दुःखो की इच्छा नही करता।[४] अन्य जीवो को जो दुःख का निमित्त बनता है वही कर्म है, हिंसा है। यह जानना आवश्यक है कि जीव कौन है और कहाँ पर है? आचारांग मे जीव-विद्या को लेकर गहराई से चिन्तन हुआ है, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायुकाय इन जीवो का परिचय कराया गया है[५], यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि अन्य आगम साहित्य मे वायु को पाँच स्थावरो के साथ गिना है, पर यहाँ पर त्रसकाय के पश्चात्, यह किस अपेक्षा से अतिक्रम हुआ है यह चिन्तनीय है। और यह स्पष्ट किया है कि इन जीवनिकायों की हिंसा मानव अपने स्वार्थ के लिए करता है, पर उसे यह ज्ञात नही कि हिंसा से कितने कर्मों का बन्धन होता है। इसलिए सभी तीर्थंकरों ने एक ही उपदेश दिया कि तुम किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो।[५] हिंसा से सभी प्राणियों को अपार कष्ट होता है इसलिए हिंसा कर्मबन्ध का एक कारण है।

मौलिक रूप मे सभी आत्माएँ समान स्वभाव वाली हैं, किन्तु कर्म-उपाधि के कारण उनके दो रूप हो जाते हैं एक ससारी आत्मा और दूसरी मुक्त आत्मा। आत्मा तभी मुक्त बनता है जब वह कर्म से रहित बनता है। इसलिये कर्म विघात के मूल साधन ही आचारांग मे प्राप्त होते हैं। आत्मा को विज्ञाता भी बताया है।[७] आत्मा ज्ञानमय है। इस प्रकार की मान्यताएँ हमें उपनिषदों मे भी प्राप्त होती हैं।

भगवान महावीर ने लोक को ऊर्ध्व, मध्य और अधः इन तीन विभागो मे विभक्त किया है[८]

---

१. आचारांग सूत्र १।३
२. आचारांग १०६
३ आचारांग ६, १३
४ आचारांग ८०
५. आचारांग ४८, ४६, ६, १, १३, १३
६. आचारांग सूत्र १२६
७. आचारांग सूत्र—१६५।
८. आचारांग सूत्र—६३।

अधोलोक में दुःख की प्रधानता है, मध्यलोक में सुख और दुःख इनकी मध्यम स्थिति है, न सुख की उत्कृष्टता है और न दुःख की। ऊर्ध्वलोक में सुख प्रधान रूप से रहा हुआ है। लोकातीत स्थान सिद्धिस्थान और मुक्त स्थान कहलाता है। ऊर्ध्वलोक में देव लोक है, मध्यलोक में मानव प्रधान है और अधोलोक में नरक है। मध्यलोक एक ऐसा स्थान है जहाँ से जीव ऊपर और नीचे दोनों स्थानों पर जा सकता है। नारकीय जीव देव नहीं बन सकता और देव नारकीय नहीं बन सकता, पर मानव लोक का जीव नरक में भी जा सकता है देव भी बन सकता है। उत्कृष्ट पाप के फल को भोगने का स्थान नरक है और पुण्य के फल को भोगने का स्थान स्वर्ग है। अच्छे कृत्य करने वाला स्वर्ग में पैदा होता है और बुरे कृत्य करने वाला नरक में। यदि मनुष्य बनकर वह साधना करता है तो मुक्त बन जाता है। वह संसार चक्र को समाप्त कर देता है। लोक और अलोक का स्पष्ट[1] उल्लेख प्राप्त होता है।

आचारांग के अनुसार अहिंसक जीवन का अर्थ है—संयमी-जीवन। भगवान महावीर और बुद्ध दोनों ने सदाचार पर बल दिया है, यहाँ जातिवाद को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया गया है।

आचारांग में साधना-पक्ष—

तथागत बुद्ध साधना के उषा-काल में उग्रतम साधना करते रहे पर उन्हें उस से आनन्द की उपलब्धि नहीं हुयी। जिसके कारण उन्होंने उग्र-साधना का परित्याग कर ध्यान का आलम्बन लिया। उनका यह अभिमत बन गया कि उग्र साधना ध्यान-साधना में बाधक है। पर प्रभु महावीर की साधना का जो शब्दचित्र आचारांग में प्राप्त है वह बहुत ही कठोर थी। प्रभु महावीर चार-चार माह तक एक ही स्थान पर अवस्थित होकर साधना करते थे। उन्होंने छः माह तक भी अन्न और जल ग्रहण नहीं किया तथापि उनकी वह उग्र-साधना ध्यान में बाधक नहीं अपितु साधक थी। प्रभु महावीर निरन्तर ध्यान-साधना में लगे रहते थे। उन्होंने अपने श्रमण-संघ की जो आचार-संहिता बनाई वह भी अत्यन्त उग्र साधना युक्त थी। श्रमण के अशन, वसन, पात्र, निवास-स्थान के सम्बन्ध में यह नियम बनाया; कि श्रमण के निमित्त यदि कोई वस्तु बनाई गई हो या पुरातन-पदार्थ में नवीन-संस्कार किया गया हो तो वह भी भिक्षु के लिये अग्राह्य है। वह उद्दिष्ट-त्यागी है। यदि उसे अनुद्दिष्ट मिल जाए तो और उसके लिये उपयोगी हो तो वह उसे ग्रहण कर सकता है। जैन श्रमण अन्य बौद्ध और वैदिक परम्परा के भिक्षुओं की तरह किसी के घर पर भोजन का निमन्त्रण भी ग्रहण नहीं करता था। बौद्ध-साहित्य में बौद्ध-श्रमणों के लिये स्थान-स्थान पर आवास हेतु विहारों के निर्माण का वर्णन है। और वैदिक परम्परा के तापसों के लिये आश्रमों की व्यवस्था बताई गई है किन्तु जैन-श्रमणों के लिये किसी भी प्रकार में निवास-स्थान का निर्माण करना निषिद्ध माना गया था। यदि निर्माण भी उसके निमित्त किया गया हो तो उसमें श्रमण अवस्थित नहीं हो सकता था। बौद्ध-भिक्षुओं के लिये वस्त्र-ग्रहण करना अनिवार्य था। श्रमणों के निमित्त क्रय करके जो गृहस्थ वस्त्र देता था उसे तथागत-बुद्ध सहर्ष-स्वीकार करते थे। बुद्ध ने श्रमणों के निमित्त से दिये गये वस्त्रों को ग्रहण करना उचित माना था। पर जैन श्रमणों के लिये वस्त्र-ग्रहण करना उत्सर्ग मार्ग नहीं था और उनके निमित्त निर्मित-क्रीत वस्त्र को वह ग्रहण भी नहीं कर सकता था। और न वह बहुमूल्य, उत्कृष्ट वस्त्रों को ग्रहण करता था। उसके पास वस्त्र होने पर ग्रीष्म-ऋतु आदि में वस्त्र-धारण करना आवश्यक न होता तो वह उसे धारण नहीं करता और आवश्यक होने पर लज्जा-निवारणार्थ अनासक्त-भाव से वस्त्र का उपयोग करता था। श्रमण भिक्षा से अपना जीवनयापन करता था। भोजन के निमित्त से होने वाली सभी प्रकार की हिंसा से वह मुक्त था। भगवान महावीर के युग में स्थूल जीवों की हिंसा से जन-मानस परिचित था। पर त्यागी और सन्यासी कहलाने वाले व्यक्तियों को भी सूक्ष्म-हिंसा का परिज्ञान नहीं था। वे नित्य नयी मिट्टी खोदकर लाते और आश्रम का लेपन करते थे। अनेकों बार स्नान करने में धर्म का अनुभव करते

---

१. आचारांग सूत्र १२०।

.थागत बुद्ध भी पानी में जीव नहीं मानते थे[1] वैदिक परम्परा में 'चउसट्ठीए मट्टियाहि स ण्हाति'' चौसठ बार मिट्टी से स्नान करता है। पंचाग्नि तप तपाने में साधना की उत्कृष्टता मानी जाती, विधि प्रकार से वायुकाय के जीवों की विराधना की जाती और कन्द-मूल-फल-फूल के आहार को निर्दोष आहा माना जाता। वैदिक-परम्परा के ऋषिगण गृह का परित्याग कर पत्नी के साथ जंगल में रहते थे। गृह-त्याग तो करते थे पर पत्नी-त्याग नहीं।

भगवान महावीर ने स्पष्ट कहा कि श्रमण को स्त्री-संग का पूर्ण त्याग करना चाहिये। क्यों स्त्री-संग से नाना प्रकार के प्रपंच करने पड़ते हैं। जिसमें केवल बन्धन ही बन्धन है। अतः सन्तों को गृ त्याग ही नहीं सर्व-संग-परित्यागी होना चाहिये। अहिंसा महाव्रत के पूर्ण रूप से पालन करने से अन्य म महाव्रतों का पालन सहज संभव था। श्रमण किसी भी प्रकार की हिंसा न स्वयं करे और न दूसरों करने के लिए प्रेरित करे और न हिंसा करने वालों का अनुमोदन ही करे—मन, वचन और काया से अहिंसा महाव्रत की सुरक्षा के लिये रात्रि-भोजन का त्याग अनिवार्य है। श्रमण को भिक्षा में जो भी व उपलब्ध होती है वह उसे समभावपूर्वक ग्रहण करता था। परीषहों को सहन करते समय उसके मन किंचित मात्र भी असमाधि नहीं होती थी। उसके मन में आनन्द की ऊर्मियाँ तरंगित होती रहती थीं शारीरिक कष्ट का असर मन पर नहीं होता। क्योंकि ध्यानाग्नि से वह कषायों को जला देता था भगवान महावीर का मुख्य लक्ष्य शरीर-शुद्धि नहीं, आत्म शुद्धि है। जिसके जीवन में अहिंसा की निर्म धारा प्रवाहित हो रही है उसे ही आर्य कहा गया है और जिसके जीवन में हिंसा की प्रधानता है अनार्य है।

आचारांग सूत्र में ऐसे अनेक शब्द व्यवहृत हुये हैं जिनमें विराट् चिन्तन छिपा हुआ है। आचारां के व्याख्याकारों ने उन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया है। आचारांग में पवि आत्मार्थी श्रमणों के लिए ''वसु'' शब्द का प्रयोग मिलता है। ''वसु'' शब्द का प्रयोग वेद और उपनिष में पवित्र आत्मा का ही प्रतीक है उसे हंस भी कहा है। ''वसु'' शब्द का यही अर्थ पारसी धर्म के मु ग्रन्थ ''अवेस्ता'' में भी है। कहीं कहीं पर ''वसु'' शब्द का प्रयोग ''देव'' और धन के अर्थ में आया है।

आचारांग में आमगंध शब्द का प्रयोग हुआ है। वह अपवित्र पदार्थ के अर्थ में है। वही अर्थ बौ साहित्य में भी मिलता है। बुद्धने कहा—प्राणघात, वध, छेद, चोरी, असत्य, वंचना, लूट, व्यभिचा आदि जितनी भी अनाचार मूलक प्रवृत्ति है वह सभी आमगंध है। इस प्रकार अनेक शब्द भाषा-प्रयोग दृष्टि से व्यापकता लिए हुए हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

आचारांग सूत्र में जो सत्य तथ्य प्रति-पादित हुए हैं। उन की प्रतिध्वनि वैदिक और बौद्ध वाङ्म मे निहारी जा सकती है। सत्य अनन्त है, उस अनन्त सत्य की अभिव्यक्ति कभी-कभी सहज रूप से ए सदृश होती है। यह कहना तो अत्यन्त कठिन है, कि किस ने किस से कितना ग्रहण किया? पर एक-दूस के चिन्तन पर एक-दूसरे के चिन्तन का प्रभाव पड़ना सहज है। वह सत्य की सहज अभिव्यक्ति है। य धार्मिक-साहित्य का गहराई से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सहज ही ज्ञात होगा कि कहीं भा में एकरूपता है तो कहीं परिभाषा में एकरूपता है। कहीं पर सूक्तियों की समानता है तो कहीं पर रूप और कथानक एक सदृश आये हैं। यहां हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में ही चिन्तन कर रहे हैं जिस यह सहज परिज्ञान हो सके कि भारतीय परम्पराओं में कितना सामंजस्य रहा है।

---

१. न हि महाराज उदकं जीवति, नत्थि उदके जीवो वा सत्तो वा'

—मिलिन्द प्रश्नो, पृ० २४३ से २४५

आचारांग में आत्मा के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए कहा गया है—सम्पूर्ण लोक में किसी के द्वारा भी आत्मा का छेदन नहीं होता ? भेदन नहीं होता, दहन नहीं होता और न हनन ही होता है।[1] इसी की प्रतिध्वनि सुबालोपनिषद्[2] और भगवद् गीता[3] में प्राप्त होती है। आचारांग में आत्मा के ही सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस का आदि और अन्त नहीं है उस का मध्य कैसे हो सकता है।[4] गौडपादकारिका में भी यही बात अन्य शब्दों में दुहराई गई है।[5]

आचारांग में जन्म-मरणातीत, नित्य, मुक्त आत्मा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि उस दशा का वर्णन करने में सारे शब्द निवृत्त हो जाते हैं—समाप्त हो जाते हैं। वहाँ तर्क की पहुँच नहीं और न बुद्धि उसे ग्रहण कर पाती है। कर्म-मल रहित केवल चैतन्य ही उस दशा का ज्ञाता है।

मुक्त आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त-गोल है। वह न त्रिकोण है, न चौरस, न मण्डलाकार। वह न कृष्ण है, न नील, न पीला न लाल और न शुक्ल ही। वह न सुगन्धि वाला है और न दुर्गन्धि वाला है। वह न तिक्त है न कड़ुआ न कषैला न खट्टा है न मधुर है। वह न कर्कश है, न कठोर है, न भारी है, न हल्का है, वह न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है न रूक्ष है।

वह न शरीरधारी है, न पुनर्जन्मा है, न आसक्त। वह न स्त्री है, न पुरुष है न नपुंसक है।

वह ज्ञाता है, वह परिज्ञाता है। उस के लिये कोई उपमा नहीं है। वह अरूपी सत्ता है।

वह अपद है। वचन अगोचर के लिए कोई पद-वाचक शब्द नहीं। वह शब्द रूप नहीं; रूप मय नहीं है, गन्ध रूप नहीं है, रस रूप नहीं है, स्पर्श रूप नहीं है वह ऐसा कुछ भी नहीं। ऐसा मैं कहता हूँ।[6]

यही बात केनोपनिषद्,[7] कठोपनिषद्,[8] बृहदारण्यक[9] माण्डूक्योपनिषद्[10] तैत्तिरीयोपनिषद्[11] और ब्रह्मविद्योपनिषद्[12] में भी प्रतिध्वनित हुयी है।

आचारांग में[13] ज्ञानियों के शरीर का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि ज्ञानियों के बाहु कृश होते हैं, उन का माँस और रक्त शुष्क हो जाता है। यही बात अन्य शब्दों में नारद परिव्राजकोपनिषद्[14] एवं संन्यासोपनिषद्[15] में भी कही गई है।

---

१ से न छिज्जइ न भिज्जइ न डज्झइ न हम्मइ, कं च णं सव्वलोए—आचारांग १।३।२।

२ न जायते न म्रियते न मुह्यति न भिद्यते न दह्यते।
न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मा॥
—सुबालोपनिषद् ९ खण्ड ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद् पृष्ठ २१०

३ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ —भगवद्गीता अ० २, श्लोक-२३

४ आचारांग सूत्र १।४।४।

५ आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा —गौडपादकारिका, प्रकरण २ श्लोक—६

६ आचारांग सूत्र—१।५।६।

७ केनोपनिषद् खण्ड-१, श्लोक –३

८ कठोपनिषद् अ० १ श्लोक १५

९ बृहदारण्यक, ब्राह्मण ८ श्लोक -८

१० माण्डूक्योपनिषद्, श्लोक-७

११ तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली २ अनुवाद-४

१२ ब्रह्मविद्योपनिषद्, श्लोक ८१-९१

१३ आगयपन्नाणाणं किसा बाहा भवंति पयणुए मंस-सोणिए —आचारांग १।६।३।

पाश्चात्य विद्वान् शुब्रिंग ने अपने सम्पादित आचाराग मे आचाराग के वाक्यों की तुलना धम्मपद और सुत्तनिपात से की है। मुनि सन्तबालजी ने आचाराग की तुलना श्रीमद्गीता के साथ की है। विशेष जिज्ञासुओं को वे ग्रन्थ देखने चाहिये। हमने यहा पर केवल संकेत मात्र किया है।

व्याख्या साहित्य

आचारांग के गम्भीर रहस्य को स्पष्ट करने के लिए समय-समय पर व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ है। उस आगमिक व्याख्या साहित्य को हम पाँच भागो मे विभक्त कर सकते हैं।

(१) निर्युक्तियाँ
(२) भाष्य
(३) चूर्णियाँ
(४) संस्कृत टीकाएँ
(५) लोकभाषा मे लिखित व्याख्या साहित्य

निर्युक्ति

जैन आगम साहित्य पर प्राकृत भाषा मे जो पद्य-बद्ध टीकाएँ लिखी गई, वे निर्युक्तियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तियो मे प्रत्येक पद्य पर व्याख्या न कर मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की है। निर्युक्ति की व्याख्या-शैली निक्षेप पद्धतिमय है। निक्षेप-पद्धति मे किसी एक पद से सम्भावित अनेक अर्थ करने के पश्चात् उनमे से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ को ग्रहण किया जाता है। यह शैली न्यायशास्त्र मे प्रशस्त मानी जाती है। भद्रबाहु ने निर्युक्तियो का निर्माण किया। निर्युक्तियाँ सूत्र और अर्थ का निश्चित अर्थ बताने वाली व्याख्या है। निश्चय से अर्थ का प्रतिपादन करने वाली युक्ति निर्युक्ति है।

जर्मन विद्वान् शारपेन्टियर ने निर्युक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि निर्युक्तियाँ अपने प्रधान भाग के केवल इंडेक्स का काम करती हैं। वे सभी विस्तार युक्त घटनावलियो का संक्षेप मे उल्लेख करती हैं। डाक्टर घाटगे ने निर्युक्तियों को तीन भागों मे विभक्त किया है।

(१) मूल निर्युक्तियां; जिसमे काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचारांग और सूत्रकृतांग की निर्युक्तियाँ।

(२) जिनमे मूल भाष्यों का संमिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र आदि की निर्युक्तियाँ।

(३) वे निर्युक्तियाँ, जिन्हे आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य कहते हैं। जिनमे मूल और भाष्य मे इतना संमिश्रण हो गया है कि उन दोनों को पृथक्-पृथक् नही कर सकते, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियाँ।

यह वर्गीकरण वर्तमान मे जो निर्युक्ति साहित्य उपलब्ध है उसके आधार से किया गया है। जैसे वैदिक परम्परा मे महर्षि यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या कर निघण्टु भाष्य का निर्माण किया। वैसे ही जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखीं। आगम प्रभाकर मुनिश्री पुण्यविजयजी का अभिमत है कि श्रुत केवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियाँ लिखीं। उनके पश्चात् गोविन्द-वाचक जैसे आचार्यों ने निर्युक्तियाँ लिखीं। उन सभी निर्युक्ति गाथाओं का संग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथा बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को व्यवस्थित कर दिया। यह स्पष्ट है कि निर्युक्तियाँ की परम्परा आगम-काल मे भी थी। 'समवायाओ निज्जुत्तीओ' यह पाठ उपलब्ध होता है। उन्हीं मूल निर्युक्तियों को आधार बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने उसे अन्तिम रूप दिया है।

इस समय दस आगमों पर निर्युक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं—

१—आवश्यक	६—दशाश्रुतस्कन्ध
२—दशवैकालिक	७—बृहत्कल्प
३—उत्तराध्ययन	८—व्यवहार
४—आचारांग	९—सूर्यप्रज्ञप्ति
५—सूत्रकृतांग	१०—ऋषिभाषित

आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों पर निर्युक्ति प्राप्त होती है। मोतीलाल बनारसीदास इण्डोलाजिक ट्रस्ट दिल्ली द्वारा मुद्रित "आचारांग सूत्र सूत्रकृतांग सूत्रं च" की प्रस्तावना में मुनि श्री जम्बूविजय जी ने आचारांग की निर्युक्ति का गाथा-परिमाण ३६७ बताया है और महावीर विद्यालय द्वारा मुद्रित "आयारंग सुत्त" प्रस्तावना में उन्होंने यह स्पष्ट किया है। आचारांग सूत्र की चतुर्थ चूला तक आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित ३५६ गाथायें हैं। मुनि श्री जम्बूविजयजी का यह अभिमत है कि निर्युक्ति की ३४६ गाथाएँ और महापरिज्ञा अध्ययन की ७ गाथाएँ—इस प्रकार ३५३ गाथाएँ हैं। (पृष्ठ ३५६) तीन गाथाएँ मुद्रित होने से छूट गई हैं। किन्तु ऋषभदेव जी केशरीमलजी रतलाम की ओर से प्रकाशित आवृत्ति में ३५६ गाथाएँ हैं। पर, हस्तलिखित प्राचीन प्रतियों में महापरिज्ञा अध्ययन की निर्युक्ति की गाथा १८ है। इस प्रकार ३६७ गाथाएँ मिलती हैं। 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' भाग तीन, पृष्ठ ११० पर ३२७ गाथाओं का उल्लेख है। निर्युक्ति की प्राचीनतम प्रति का आधार ही विशेष विश्वसनीय है।

आचारांग-निर्युक्ति, उत्तराध्ययन निर्युक्ति के पश्चात् और सूत्रकृतांग निर्युक्ति के पूर्व रची हुई है। सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार कर आचार, अंग, श्रुत, स्कन्ध, ब्रह्म, चरण, शस्त्र-परिज्ञा, संज्ञा और दिशा पर निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया गया है। चरण के छह निक्षेप हैं, दिशा के सात निक्षेप हैं और शेष चार-चार निक्षेप हैं। आचार के पर्यायवाची एकार्थक शब्दों का उल्लेख करते हुए आचारांग के महत्व का प्रतिपादन किया है। आचारांग के नौ ही अध्ययनों का संक्षेप में सार प्रस्तुत किया है। शस्त्र और परिज्ञा इन शब्दों पर नाम, स्थापना आदि निक्षेपों से चिन्तन किया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में भी अग्र शब्द पर निक्षेप दृष्टि से विचार करते हुए उसके आठ प्रकार बताये हैं। १—द्रव्याग्र २—अवगाहनाग्र ३—आदेशाग्र ४—कालाग्र ५—क्रमाग्र ६—गणनाग्र ७—संचयाग्र ८—भावाग्र। भावाग्र के तीन भेद हैं—१—प्रधानाग्र, २ प्रभूताग्र, ३ उपकाराग्र। यहाँ पर उपकाराग्र का वर्णन है। चूलिकाओं के अध्ययन की भी निक्षेप की दृष्टि से व्याख्या की है।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् 'हिमवन्त थेरावली" के अनुसार आचार्य गन्धहस्ती द्वारा विरचित आचारांग-सूत्र के विवरण की सूचना है। आचार्य गन्धहस्ती का समय सम्राट् विक्रम के २०० वर्ष के पश्चात् का है। आचार्य शीलांक ने भी प्रस्तुत विवरण का सूचन करते हुए कहा है कि 'वह अत्यन्त क्लिष्ट होने के कारण मैं बहुत ही सरल और सुगम वृत्ति लिख रहा हूँ।' पर आज वह विवरण उपलब्ध नहीं है, अतः उसके सम्बन्ध में विशेष कुछ भी लिखा नहीं जा सकता।

आचारांग सूत्र पर कोई भी भाष्य नहीं लिखा गया है। उसकी पाँचवी चूला निशीथ है। उस पर भाष्य मिलता है। निर्युक्ति पद्यात्मक है, किन्तु चूर्णि गद्यात्मक है। चूर्णि की भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। आचारांग चूर्णि में उन्हीं विषयों का विस्तार किया गया है, जिन विषयों पर आचारांग निर्युक्ति में चिन्तन किया गया है। अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा,

इस सम्पादन में अनेक परिशिष्ट भी है। विशिष्ट शब्द सूची भी दी गई है जिससे प्रत्येक पाठक के लिए प्रस्तुत संस्करण अधिक उपयोगी बन गया है। 'जाव' शब्द के प्रयोग व परम्परा पर सम्पादक ने संक्षिप्त में अच्छा प्रकाश डाला है। इसी तरह अन्य आगमों का प्रकाशन भी द्रुतगति से हो रहा है। मैं बहुत ही विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था और उन सभी प्रश्नों पर चिन्तन भी करना चाहता था जो अभी तक अनछुए रहे। पर निरन्तर विहार यात्रा होने से समयाभाव व ग्रन्थाभाव के कारण लिख नहीं सका, पर जो कुछ भी लिख गया है वह प्रबुद्ध पाठकों को आचाराग के महत्त्व को समझने में उपयोगी होगा ऐसी आशा करता हूँ।

—देवेन्द्र मुनि शास्त्री

दि० १८-२-८०
फाल्गुन शुक्ला, २०३६
जैन स्थानक, बोरीवली बम्बई

□□

अनुक्रमणिका

आचाराङ्ग सूत्र [प्रथम श्रुतस्कन्ध : अध्ययन १ से ९]

शस्त्रपरिज्ञा : प्रथम अध्ययन (७ उद्देशक) पृष्ठ ३ से ३७

लोकविजय : द्वितीय अध्ययन (६ उद्देशक) पृष्ठ ४० से ८२

आचाराङ्ग सूत्र

शस्त्रपरिज्ञा—प्रथम अध्ययन

प्राथमिक

☆ आचारांग सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'शस्त्रपरिज्ञा' है।

☆ शस्त्र का अर्थ है— हिंसा के उपकरण या साधन। जो जिसके लिए विनाशक या मारक होता है, वह उसके लिए शस्त्र है।[1] चाकू, तलवार आदि हिंसा के बाह्य साधन, द्रव्य-शस्त्र हैं। राग-द्वेषयुक्त कलुषित परिणाम भाव-शस्त्र हैं।

☆ परिज्ञा का अर्थ है—ज्ञान अथवा चेतना। इस शब्द से दो अर्थ ध्वनित होते हैं— 'ज्ञ-परिज्ञा' द्वारा वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान तथा 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा' द्वारा हिंसादि के हेतुओं का त्याग।

☆ शस्त्र-परिज्ञा का सरल अर्थ है—हिंसा के स्वरूप और साधनों का ज्ञान प्राप्त करके उनका त्याग करना।

☆ हिंसा की निवृत्ति अहिंसा है। अहिंसा का मुख्य आधार है—आत्मा। आत्मा का ज्ञान होने पर ही अहिंसा में आस्था दृढ़ होती है, तथा अहिंसा का सम्यक् परिपालन किया जा सकता है।

☆ प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में सर्वप्रथम 'आत्म-संज्ञा'—आत्म-बोध की चर्चा करते हुए बताया है कि कुछ मनुष्यों को आत्म-बोध स्वयं हो जाता है, कुछ को उपदेश-श्रवण व शास्त्र-अध्ययन आदि से होता है। आत्म-बोध होने पर आत्मा के अस्तित्व में विश्वास होता है, तब वह आत्मवादी बनता है। आत्मवादी ही अहिंसा का सम्यक् परिपालन कर सकता है। इस प्रकार आत्म-अस्तित्व की चर्चा के बाद हिंसा-अहिंसा की चर्चा की गई है। हिंसा के कार[illegible]ी चर्चा, षट्काय के जीवों का स्वरूप, उनकी सचेतनता की [illegible] मे होने [illegible] आत्म-परिताप, कर्मबन्ध, तथा उससे विरत होने का उपदेश[2] [illegible] स[illegible] सूत्र प्रथम अध्ययन के सात उद्देशकों एवं बासठ [illegible]

1. [illegible] भाग ७ पृष्ठ ३३१ [illegible] 'शस्त्र'

2. आचारांग [illegible] —गाथा ३५

हेय-उपादेय बुद्धि का अभाव[1], अज्ञान[2], विपरीतबुद्धि[3], मूढ़ता[4], चित्त की व्याकुलता[5], मिथ्यात्व तथा कषायविषय आदि की अभिलाषा, यह सब मोह है।

ये सब 'मोह' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। सत्य तत्व को अयथार्थ रूप में समझना दर्शन-मोह, तथा विषयों की संगति (आसक्ति) चारित्रमोह है।[6] धवला (८।२८३।६) के अनुसार भाव ग्रन्थ के १४ भेद मोह में ही सम्मिलित हैं। उक्त सभी प्रकार के भाव, हिंसा के प्रबल कारण हैं, अतः स्वयं हिंसा भी है।

'मार' शब्द मृत्यु के अर्थ में ही प्रायः प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में मृत्यु, काम का प्रतीक तथा क्लेश के अर्थ में 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[8]

'नरक' शब्द पापकर्मियों के यातनास्थान[9] के अर्थ में ही आगमों में प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतांगटीका में 'नरक' शब्द का अनेक प्रकार से विवेचन किया गया है। अशुभ रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श को भी 'नोकर्म द्रव्यनरक' माना गया है। नरक प्रायोग्य कर्मों के उदय (अपेक्षा से कर्मोपार्जन की क्रिया) को 'भावनरक' बताया है। हिंसा को इसी दृष्टि से नरक कहा गया है कि नरक के योग्य कर्मोपार्जन का यह सबसे प्रबल कारण है, इतना प्रबल, कि यह स्वयं नरक ही है। हिंसक की मनोदशा भी नारक के समान क्रूर व अशुभतर होती है।[10]

पृथ्वीकायिक जीवों का वेदना-बोध

१५—से बेमि—

अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पादमब्भे, अप्पेगे पादमच्छे,
अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे,
अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे,
अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे,
अप्पेगे उदरमब्भे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे,
अप्पेगे पिट्ठिमब्भे, अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे,
अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे,
अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे,
अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे,
अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे,
अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे,
अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे,

---

१. उत्तराध्ययन ३। २. वहीं।
३. विशेषावश्यक (अभि. रा. 'मोह' शब्द) ४. ज्ञाना १।८
५. सूत्रकृतांग १. अ. ४ उ. १ गा. ३१ ६. आचा० शी० टीका

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्मसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

१४. वह साधक (संयमी) हिंसा के उक्त दुष्परिणामों को अच्छी तरह समझता हुआ, आदानीय—संयम-साधना में तत्पर हो जाता है। कुछ मनुष्यों को भगवान के या अनगार मुनियों के समीप धर्म सुनकर यह ज्ञात होता है कि—'यह जीव-हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है और यही नरक है।'

(फिर भी) जो मनुष्य सुख आदि के लिए जीवहिंसा में आसक्त होता है, वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी-सम्बन्धी हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है। और तब वह न केवल पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, अपितु अन्य नानाप्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है।

विवेचन—चूर्णि में 'आदानीय' का अर्थ संयम तथा 'विनय' किया है।

इस सूत्र में आये 'ग्रन्थ' आदि शब्द एक विशेष पारम्परिक अर्थ रखते हैं। साधारणतः 'ग्रन्थ' शब्द पुस्तक विशेष का सूचक है। शब्दकोष में ग्रन्थ का अर्थ 'गांठ' (ग्रन्थि) भी किया गया है जो शरीरविज्ञान एवं मनोविज्ञान में अधिक प्रयुक्त होता है। जैनसूत्रों में आया हुआ 'ग्रन्थ' शब्द इनसे भिन्न अर्थ का द्योतक है।

आगमों के व्याख्याकार आचार्य मलयगिरि के अनुसार—"जिसके द्वारा, जिससे तथा जिसमें बँधा जाता है वह ग्रन्थ है।"[1]

उत्तराध्ययन, आचारांग, स्थानांग, विशेषावश्यक भाष्य आदि में कषाय को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है। आत्मा को बाँधने वाले कषाय या कर्म को भी ग्रन्थ कहा गया है।[2]

ग्रन्थ के दो भेद हैं—द्रव्य ग्रन्थ और भाव ग्रन्थ। द्रव्य ग्रन्थ दश प्रकार का परिग्रह है—(१) क्षेत्र, (२) वास्तु, (३) धन, (४) धान्य, (५) संचय,—तृण काष्ठादि, (६) मित्र-ज्ञाति-संयोग, (७) यान—वाहन, (८) शयनासन, (९) दासी-दास और (१०) कुप्य।

भावग्रन्थ के १४ भेद हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ, (५) प्रेम, (६) द्वेष, (७) मिथ्यात्व, (८) वेद, (९) अरति, (१०) रति, (११) हास्य, (१२) शोक, (१३) भय और (१४) जुगुप्सा।[3]

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा को ग्रन्थ या ग्रन्थि कहा है, इस सन्दर्भ में आगम-गत उक्त सभी अर्थ या भाव इस शब्द में ध्वनित होते हैं। ये सभी भाव हिंसा के मूल कारण ही नहीं, बल्कि स्वयं भी हिंसा है। अतः 'ग्रन्थ' शब्द में ये सब भाव निहित समझने चाहिए।

'मोह' शब्द राग या विकारी प्रेम के अर्थ में प्रसिद्ध है। जैन आगमों में 'मोह' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। राग और द्वेष—दोनों ही मोह हैं।[4] सदसद् विवेक का नाश[5],

---

१ [illegible] —विशेषा० १३८३ (अभि. राजेन्द्र ३।७१२)
२ [illegible]
३ [illegible] १ गा १०-१४
४ [illegible]
५ [illegible] ३।४

हेय-उपादेय बुद्धि का अभाव[1], अज्ञान[2], विपरीतबुद्धि[3], मूढता[4], चित्त की व्याकुलता[5], मिथ्यात्व तथा कषायविषय आदि की अभिलाषा , यह सब मोह है।

ये सब 'मोह' शब्द के विभिन्न अर्थ हैं। सत्य तत्व को अयथार्थ रूप में समझना दर्शन-मोह, *तथा विषयों की संगति (आसक्ति) चारित्रमोह है।*[7] *धवला (८।२८३।६)* के अनुसार भाव ग्रन्थ के १४ भेद मोह में ही सम्मिलित हैं। उक्त सभी प्रकार के भाव, हिंसा के प्रबल कारण हैं, अतः स्वयं हिंसा भी है।

'मार' शब्द मृत्यु के अर्थ मे ही प्राय. प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध ग्रन्थों में मृत्यु, काम का प्रतीक तथा क्लेश के अर्थ में 'मार' शब्द का प्रयोग हुआ है।[8]

'नरक' शब्द पापकर्मियों के यातनास्थान[9] के अर्थ में ही आगमों मे प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकृतागटीका में 'नरक' शब्द का अनेक प्रकार मे विवेचन किया गया है। अशुभ रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्श को भी 'नोकर्म द्रव्यनरक' माना गया है। नरक प्रायोग्य कर्मों के उदय (अपेक्षा से कर्मोपार्जन की क्रिया) को 'भावनरक' बताया है। हिंसा को इसी दृष्टि से नरक कहा गया है कि नरक के योग्य कर्मोपार्जन का वह सबसे प्रबल कारण है, इतना प्रबल, कि वह स्वयं नरक ही है। हिंसक की मनोदशा भी नारक के समान क्रूर व अशुभतर होती है।[10]

पृथ्वीकायिक जीवों का वेदना-बोध

१५—से बेमि—

अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पादमब्भे, अप्पेगे पादमच्छे,
अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे जंघमब्भे, अप्पेगे जंघमच्छे,
अप्पेगे जाणुमब्भे, अप्पेगे जाणुमच्छे, अप्पेगे ऊरुमब्भे, अप्पेगे ऊरुमच्छे,
अप्पेगे कडिमब्भे, अप्पेगे कडिमच्छे, अप्पेगे णाभिमब्भे, अप्पेगे णाभिमच्छे,
अप्पेगे उदरमब्भे, अप्पेगे उदरमच्छे, अप्पेगे पासमब्भे, अप्पेगे पासमच्छे,
अप्पेगे पिट्ठिमब्भे, अप्पेगे पिट्ठिमच्छे, अप्पेगे उरमब्भे, अप्पेगे उरमच्छे,
अप्पेगे हिययमब्भे, अप्पेगे हिययमच्छे, अप्पेगे थणमब्भे, अप्पेगे थणमच्छे,
अप्पेगे खंधमब्भे, अप्पेगे खंधमच्छे, अप्पेगे बाहुमब्भे, अप्पेगे बाहुमच्छे,
अप्पेगे हत्थमब्भे, अप्पेगे हत्थमच्छे, अप्पेगे अंगुलिमब्भे, अप्पेगे अंगुलिमच्छे,
अप्पेगे णहमब्भे, अप्पेगे णहमच्छे, अप्पेगे गीवमब्भे, अप्पेगे गीवमच्छे,
अप्पेगे हणुयमब्भे, अप्पेगे हणुयमच्छे, अप्पेगे होट्ठमब्भे, अप्पेगे होट्ठमच्छे,
अप्पेगे दंतमब्भे, अप्पेगे दंतमच्छे, अप्पेगे जिब्भमब्भे, अप्पेगे जिब्भमच्छे,

---

१. उत्तराध्ययन ३।
२. वहीं।
३. विशेषावश्यक (अभि. रा. 'मोह' शब्द)
४. ज्ञाता १।८
५. सूत्रकृताग १, अ. ४ उ १ गा. ३१
६. आचा० शी० टीका
७. प्रवचनसार ८५
८ आगम और त्रिपि० १६७
९. (अ) पापकर्मिणो यातनास्थानेषु—सूत्र० वृत्ति २।१ (ब) राजवार्तिक २।५०।२-३

अप्पेगे तालुमब्भे, अप्पेगे तालुमच्छे, अप्पेगे गलमब्भे, अप्पेगे गलमच्छे, अप्पेगे गंडमब्भे, अप्पेगे गंडमच्छे, अप्पेगे कण्णमब्भे, अप्पेगे कण्णमच्छे, अप्पेगे णासमब्भे, अप्पेगे णासमच्छे, अप्पेगे अच्छिमब्भे, अप्पेगे अच्छिमच्छे, अप्पेगे भमुहमब्भे, अप्पेगे भमुहमच्छे, अप्पेगे णिडालमब्भे, अप्पेगे णिडालमच्छे, अप्पेगे सीसमब्भे, अप्पेगे सीसमच्छे।

अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए।

१५. मैं कहता हूं—

(जैसे कोई किसी जन्मान्ध[1] व्यक्ति को (मूसल-भाला आदि से) भेदे, चोट करे या तलवार आदि से छेदन करे, उसे जैसी पीड़ा की अनुभूति होती है, वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी के पैर में, टखने पर, जंघा, घुटने, उरु, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व-पसली पर, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कन्धे, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, (गर्दन) ठुड्डी, होठ, दाँत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आँख, भौंह, ललाट, और शिर का (शस्त्र से) भेदन छेदन करे, (तब उसे जैसी पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा पृथ्वीकायिक जीवों को होती है।)

जैसे कोई किसी को गहरी चोट मारकर, मूच्छित करदे, या प्राण-वियोजन ही करदे, उसे जैसी कष्टानुभूति होती है, वैसी ही पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना समझना चाहिए।

विवेचन—पिछले सूत्रों में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का निषेध किया गया है। पृथ्वीकायिक जीवों में चेतना अव्यक्त होती है। उनमें हलन-चलन आदि क्रियाएँ भी स्पष्ट दीखती नही, अत. यह शंका होना स्वाभाविक है कि पृथ्वीकायिक जीव न चलता है, न बोलता है, न देखता है, न सुनता है, फिर कैसे माना जाय कि वह जीव है ? उसे भेदन-छेदन करने से कष्ट का अनुभव होता है ?

इस शंका के समाधान हेतु सूत्रकार ने तीन दृष्टान्त देकर पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना का बोध तथा अनुभूति कराने का प्रयत्न किया है।

प्रथम दृष्टान्त में बताया है—कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बधिर, मूक या पंगु है। कोई पुरुष उसका छेदन-भेदन करे तो वह उस पीड़ा को न तो वाणी से व्यक्त कर सकता है, न त्रस्त होकर चल सकता है, न अन्य चेष्टा से पीड़ा को प्रकट कर सकता है। तो क्या यह मान लिया जाय कि वह जीव नही है, या उसे भेदन-छेदन करने से पीड़ा नही होती है ?

जैसे वह जन्मान्ध व्यक्ति वाणी, चक्षु, गति आदि के अभाव में भी पीड़ा का अनुभव करता है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव इन्द्रिय-विकल अवस्था में पीड़ा की अनुभूति करते हैं।

---

१. यहाँ 'अन्ध' शब्द का अर्थ जन्म से इन्द्रिय-विकल—बहरा, गूंगा, पंगु तथा अवयवहीन समझना चाहिए।
—आचा० शीला० टीका ३५।१

दूसरे दृष्टान्त में किसी स्वस्थ मनुष्य की उपमा से बताया है, जैसे उसके पैर, आदि बत्तीस अवयवों का एक साथ छेदन-भेदन करते हैं, उस समय वह मनुष्य न भली प्रकार देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है, न चल सकता है, किन्तु इससे यह तो नहीं माना जा सकता कि उसमें चेतना नहीं है या उसे कष्ट नहीं हो रहा है। इसी प्रकार पृथ्वी-कायिक जीव में व्यक्त चेतना का अभाव होने पर भी उसमें प्राणों का स्पन्दन है, अनुभव-चेतना विद्यमान है, अतः उसे भी कष्टानुभूति होती है।

तीसरे दृष्टान्त में मूर्च्छित मनुष्य के साथ तुलना करते हुए बताया है कि जैसे मूर्च्छित मनुष्य की चेतना बाहर में लुप्त होती है, किन्तु उसकी अन्तरंग चेतना—अनुभूति लुप्त नहीं होती, उसी प्रकार स्त्यानगृद्धिनिद्रा के सतत उदय से पृथ्वीकायिक जीवों की चेतना मूर्च्छित व अव्यक्त रहती है। पर वे आन्तर चेतना से शून्य नहीं होते।

उक्त तीनों उदाहरण पृथ्वीकायिक जीवों की सचेतनता तथा मनुष्य शरीर के साथ पीड़ा की अनुभूति स्पष्ट करते हैं।

भगवती सूत्र (श० १९ उ० ३५) में बताया है—जैसे कोई तरुण और बलिष्ठ पुरुष किसी जरा-जीर्ण पुरुष के सिर पर दोनों हाथों से प्रहार करके उसे आहत करता है, तब वह जैसी अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है, उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव पृथ्वीकायिक जीवों को आक्रान्त होने पर होता है।

१६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

१७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं पुढविसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं पुढविसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे—पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

१८. जस्सेते पुढविकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१६. जो यहाँ (लोक में) पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ—प्रयोग करता है, वह वास्तव में इन आरंभों (हिंसा सम्बन्धी प्रवृत्तियों के कटु परिणामों व जीवों की वेदना) से अनजान है।

जो पृथ्वीकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ/प्रयोग नहीं करता, वह वास्तव में इन आरंभों/हिंसा-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का ज्ञाता है, (वही इनसे मुक्त होता है)—

१७. यह (पृथ्वीकायिक जीवों की अव्यक्त वेदना) जानकर बुद्धिमान् मनुष्य न स्वयं पृथ्वीकाय का समारंभ करे, न दूसरों से पृथ्वीकाय का समारंभ करवाए और न उसका समारंभ करने वाले का अनुमोदन करे।

असत्य अभियोग लगाने के समान है। आगमो मे अभ्याख्यान शब्द निम्न कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

दोषाविष्करण—दोष प्रकट करना —(भगवती ५।६)।
असद् दोष का आरोपण करना—(प्रज्ञापना २२।प्रश्न० २)।
दूसरो के समक्ष निंदा करना—(प्रश्न० २)।
असत्य अभियोग लगाना—(आचा० १।३)।

२३. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

२४. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवितस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव उदयसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदयसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदयसत्थं समारंभंते समणुजाणति।

तं से अहिताए तं से अबोधीए।

२५. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं उदयकम्मसमारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।[1]

२६. से बेमि—संति पाणा उदयणिस्सिया जीवा अणेगा।
इहं च खलु भो अणगाराणं उदय-जीवा वियाहिया।
सत्थं चेत्थ अणुवीयि पास। पुढो सत्थं पवेदितं।[2] अदुवा अदिण्णादाणं।

२३. तू देख! सच्चे साधक हिंसा (अपकाय की) करने में लज्जा अनुभव करते है। और उनको भी देख, जो अपने आपको 'अनगार' घोषित करते हैं, वे विविध प्रकार के शस्त्रों (उपकरणो) द्वारा जल सम्बन्धी आरंभ-समारंभ करते हुए जल-काय के जीवों की हिंसा करते हैं। और साथ ही तदाश्रित अन्य अनेक जीवो की भी हिंसा करते है।

२४. इस विषय मे भगवान ने परिज्ञा अर्थात् विवेक का निरूपण किया है। —अपने इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के लिए, दु:खों का प्रतीकार करने के लिए (इन कारणों से) कोई स्वयं अपकाय की हिंसा करता है, दूसरो से भी अपकाय की हिंसा करवाता है और अपकाय की हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है। यह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है तथा अबोधि का कारण बनती है।

---

१. सूत्र २५ के बाद कुछ प्रतियो में 'अप्पेगे अंधमब्भे' पृथ्वीकाय का सूत्र १५ पूर्ण रूप से उद्धृत मिलता है। यह सूत्र अग्निकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय एव वायुकाय के प्रकरण मे भी मिलता है। हमारी आदर्श प्रति मे यह पाठ नही है। —सम्पादक

२. वृत्ति में 'पुढोऽपास पवेदित'—पाठान्तर है, जिसका आशय है शस्त्र-परिणामित उदक ग्रहण करना अपाप—अबन्धन (अनुमत) है।

२५. वह साधक यह समझते हुए संयम-साधना में तत्पर हो जाता है।

भगवान् से या अनगार मुनियों से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह परिज्ञात हो जाता है, जैसे—यह अप्कायिक जीवों की हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, साक्षात् मृत्यु है, नरक है।

फिर भी मनुष्य इस (जीवन, प्रशंसा, सन्तान आदि के लिए) में आसक्त होता है। जो कि वह तरह-तरह के शस्त्रो से उदक-काय की हिंसा-क्रिया में संलग्न होकर अप्कायिक जीवो की हिंसा करता है। वह केवल अप्कायिक जीवो की ही नही, किन्तु उसके आश्रित अन्य अनेक प्रकार के (त्रस एवं स्थावर) जीवो की भी हिंसा करता है।

२६. मैं कहता हूँ—

जल के आश्रित अनेक प्रकार के जीव रहते हैं।

हे मनुष्य! इस अनगार-धर्म में, अर्थात् अर्हत्दर्शन में जल को 'जीव' (सचेतन) कहा है। जलकाय के जो शस्त्र हैं, उन पर चिन्तन करके देख! भगवान ने जलकाय के अनेक शस्त्र बताये हैं।

जलकाय की हिंसा, सिर्फ हिंसा ही नही, वह अदत्तादान—चोरी भी है।

विवेचन—अप्काय को सजीव—सचेतन मानना जैन दर्शन की मौलिक मान्यता है। भगवान महावीर कालीन अन्य दार्शनिक जल को सजीव नही मानते थे, किन्तु उसमें आश्रित अन्य जीवों की सत्ता स्वीकार करते थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'वर्षा' को जल का गर्भ माना है, और जल को 'प्रजनन शक्ति' के रूप में स्वीकार किया है। 'प्रजनन क्षमता' सचेतन में ही होती है, अतः सचेतन होने की धारणा का प्रभाव वैदिक चिन्तन पर पड़ा है, ऐसा माना जा सकता है।[1] किन्तु मूलतः अनगारदर्शन को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक जल को सचेतन नही मानते थे। इसलिए यहाँ दोनों तथ्य स्पष्ट किये गये है—(१) जल सचेतन है। (२) जल के आश्रित अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जीव रहते हैं।

अनगारदर्शन में जल के तीन प्रकार बताये हैं—(१) सचित्त—जीव-सहित। (२) अचित्त—निर्जीव। (३) मिश्र—सजीव-निर्जीव मिश्रित जल। सजीव जल, शस्त्र-प्रयोग से निर्जीव होता है। जलकाय के सात शस्त्र इस प्रकार बताये हैं[2]—

उत्सेचन—कुएँ से जल निकालना,

गालन—जल छानना,

धोवन—जल से उपकरण/बर्तन आदि धोना,

स्वकाय शस्त्र—एक स्थान का जल दूसरे स्थान के जल का शस्त्र है,

---

१. देखिए—श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ३४६, डा० जे० आर० जोशी (पूना) का लेख।

२. निर्युक्ति गाथा ११३-११४।

जो जलकायिक जीवो पर शस्त्र-प्रयोग नही करता, वह आरंभो का ज्ञाता है, वह हिंसा-दोष से मुक्त होता है। अर्थात् वह ज्ञ-परिज्ञा से हिंसा को जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसे त्याग देता है।

३०. बुद्धिमान मनुष्य यह (उक्त कथन) जानकर स्वयं जलकाय का समारंभ न करे, दूसरों से न करवाए, और उसका समारंभ करने वालो का अनुमोदन न करे।

३१. जिसको जल-सम्बन्धी समारंभ का ज्ञान होता है, वही परिज्ञातकर्मा (मुनि) होता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

अग्निकाय की सजीवता

३२. से बेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा।
जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति।
जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति।
जे दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे से असत्थस्स खेयण्णे।
जे असत्थस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्थस्स खेयण्णे।

३२. मैं कहता हूँ—

वह (जिज्ञासु साधक) कभी भी स्वयं लोक (अग्निकाय) के अस्तित्व का, अर्थात् उसकी सजीवता का अपलाप (निषेध) न करें। न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अपलाप करे। क्योकि जो लोक (अग्निकाय) का अपलाप करता है, वह अपने आप का अपलाप करता है। जो अपने आप का अपलाप करता है वह लोक का अपलाप करता है।

जो दीर्घलोक शस्त्र (अग्निकाय) के स्वरूप को जानता है वह अशस्त्र (संयम) का स्वरूप भी जानता है। जो संयम का स्वरूप जानता है वह दीर्घ लोक-शस्त्र का स्वरूप भी जानता है।

विवेचन—यहा प्रसंगानुसार 'लोक' शब्द अग्निकाय का बोधक है। तत्कालीन धर्म-परम्पराओं में जल को, तथा अग्नि को देवता मानकर पूजा तो जाता था, किन्तु उनकी हिंसा के सम्बन्ध में कोई विचार नही किया गया था। जल से शुद्धि और पंचाग्नि तप आदि से सिद्धि मानकर इनका खुल्लमखुल्ला प्रयोग/उपयोग किया जाता था। भगवान महावीर ने अहिंसा की दृष्टि से इन दोनो को सजीव मानकर उनकी हिंसा का निषेध किया है।

अशस्त्र—शब्द 'संयम' के अर्थ में प्रयुक्त है। असंयम को भाव शस्त्र बताया है,[1] अतः उसका विरोधी संयम—अ-शस्त्र अर्थात् जीव मात्र का रक्षक/बन्धु/मित्र है। प्रकारान्तर से इस कथन का भाव है—जो हिंसा को जानता है, वही अहिंसा को जानता है, जो अहिंसा को जानता है वही हिंसा को भी जानता है।

अग्निकायिक-जीव-हिंसा-निषेध

३३. वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं संजतेहिं सया जतेहिं सदा अप्पमत्तेहिं।
जे पमत्ते गुणट्ठिते से हु दंडे पवुच्चति।
तं परिण्णाय मेहावी इदाणीं णो जमहं पुव्वमकासी पमादेणं।

३३. वीरो (आत्मज्ञानियों) ने, ज्ञान-दर्शनावरण आदि कर्मों को विजय कर/नष्ट कर यह (संयम का पूर्ण स्वरूप) देखा है। वे वीर संयमी, सदा यतनाशील और सदा अप्रमत्त रहने वाले थे।

जो प्रमत्त है, गुणों (अग्नि के रांधना-पकाना आदि गुणो) का अर्थी है, वह दण्ड/हिंसक कहलाता है।

यह जानकर मेधावी पुरुष (संकल्प करे)—अब मैं वह (हिंसा) नही करूंगा, जो मैंने प्रमाद के वश होकर पहले किया था।

विवेचन—इस सूत्र में वीर आदि विशेषण सम्पूर्ण आत्म-ज्ञान (केवल ज्ञान) प्राप्त करने की प्रक्रिया के सूचक है।

वीर—पराक्रमी—साधना में आने वाले समस्त विघ्नो पर विजय पाना।

संयम—इन्द्रिय और मन को विवेक द्वारा निग्रहीत करना।

यम—क्रोध आदि कषायो की विजय करना।

अप्रमत्तता—स्व-रूप की स्मृति रखना। सदा जागरूक और विषयोन्मुखी प्रवृत्तियों से विमुख रहना।

इस प्रक्रिया द्वारा (आत्म-दर्शन) केवलज्ञान प्राप्त होता है। उन केवली भगवान ने जीव हिंसा के स्वरूप को देखकर अ-शस्त्र—संयम का उपदेश किया है।

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पांच प्रमाद हैं। मनुष्य जब इनमें आसक्त होता है तभी वह अग्नि के गुणों/उपयोगो—राधना, पकाना, प्रकाश, ताप आदि की वाछा करता है। और तब वह स्वयं जीवों का दण्ड (हिंसक) बन जाता है।

हिंसा के स्वरूप का ज्ञान होने पर बुद्धिमान् मनुष्य उसको त्यागने का संकल्प करता है। मन में दृढ निश्चय कर अहिंसा की साधना पर बढता है और पूर्व-कृत हिंसा आदि के लिए पश्चात्ताप करता है—यह सूत्र के अन्तिम पद में बताया है।

३४. लज्जमाणा पुढो पास।

'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

---

१ भावे य असंजमो सत्थं—निर्युक्ति गाथा ९६

३५. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव अगणिसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारभावेति, अण्णे वा अगणिसत्थं समारभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

३६. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्मसमारंभेणं अगणिसत्थं समारंभमाणे अण्णे वऽणेगरूवे पाणे विहिंसति।

३७. से बेमि—संति पाणा पुढविणिस्सिता तणणिस्सिता पत्तणिस्सिता कट्ठणिस्सिता गोमयणिस्सिता कयवरणिस्सिता।

संति संपातिमा पाणा आहच्च संपयंति य।

अगणिं च खलु पुट्ठा एगे संघातमावज्जंति। जे तत्थ संघातमावज्जंति ते तत्थ परियावज्जंति। जे तत्थ परियावज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

३४. तू देख! संयमी पुरुष जीव-हिंसा मे लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते है।

और उनको भी देख, जो हम 'अनगार—गृह त्यागी साधु है'—यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के शस्त्रों/उपकरणों से अग्निकाय की हिंसा करते हैं। अग्निकाय के जीवों की हिंसा करते हुए अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं।

३५. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक-ज्ञान का निरूपण किया है। कुछ मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोक्ष के निमित्त, तथा दु:खों का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं अग्निकाय का समारंभ करते हैं। दूसरों से अग्निकाय का समारंभ करवाते है। अग्निकाय का समारंभ करने वालों (दूसरो) का अनुमोदन करते हैं।

यह (हिंसा) उनके अहित के लिए होती है। यह उनकी अबोधि के लिए होती है।

३६. वह (साधक) उसे (हिंसा के परिणाम को) भली प्रकार समझे और संयम-साधना में तत्पर हो जाये।

तीर्थंकर आदि प्रत्यक्ष ज्ञानी अथवा श्रुत ज्ञानी मुनियों के निकट से सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है कि यह जीव हिंसा—ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य जीवन, मान, वंदना आदि हेतुओ में आसक्त हुए विविध प्रकार के शस्त्रों से अग्निकाय का समारंभ करते हैं। और अग्निकाय का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्रकार के प्राणों/जीवों की भी हिंसा करते हैं।

३७. मैं कहता हूं—

बहुत से प्राणी—पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कूड़ा-कचरा आदि के आश्रित रहते हैं।

कुछ संपातिम/उड़ने वाले प्राणी होते हैं (कीट, पतंगे, पक्षी आदि) जो उड़ते-उड़ते नीचे गिर जाते हैं।

ये प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर संघात (शरीर का संकोच) प्राप्त होते हैं। शरीर का संघात होने पर अग्नि की उष्मा से मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छित हो जाने के बाद मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं।

विवेचन—सूत्र ३४-३५ का अर्थ पिछले २३-२४ सूत्र की तरह सुबोध ही है। अग्निकाय के शस्त्रों का उल्लेख निर्युक्ति में इस प्रकार है—

१. मिट्टी या धूलि (इससे वायु निरोधक वस्तु कंबल आदि भी समझना चाहिए), २. जल, ३. आर्द्र वनस्पति, ४. त्रस प्राणी, ५. स्वकाय शस्त्र—एक अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ६. परकाय शस्त्र—जल आदि, ७. तदुभय मिश्रित—जैसे तुष-मिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र है, ८. भावशस्त्र—असंयम।

३८. एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

३९. [1]जस्स एते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

३८. जो अग्निकाय के जीवों पर शस्त्र-प्रयोग करता है, वह इन आरंभ-समारंभ क्रियाओं के कटु परिणामो से अपरिज्ञात होता है, अर्थात् वह हिंसा के दु:खद परिणामों से छूट नही सकता है।

जो अग्निकाय पर शस्त्र-समारंभ नही करता है, वास्तव में वह आरंभ का ज्ञाता अर्थात् हिंसा से मुक्त हो जाता है।

३९. जिसने यह अग्नि-कर्म-समारंभ भली प्रकार समझ लिया है, वही मुनि है, वही परिज्ञात-कर्मा (कर्म का ज्ञाता और त्यागी) है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१ सूत्र ३८ के बाद कुछ प्रतियों में यह पाठ मिलता है। "त परिण्णाय मेहावी णेव सयं अगणिसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं अगणिसत्थं समारभावेज्जा, अगणिसत्थं समारभंते वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा।" यह पाठ चूर्णिकार तथा टीकाकार ने मूल रूप मे स्वीकृत किया है, ऐसा लगता है, किन्तु कुछ प्रतियो मे नहीं है।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

अणगार का लक्षण

४०. तं णो करिस्सामि समुट्ठाए मत्ता मतिमं अभयं विदित्ता तं जे णो करए एसो वरते, एत्थोवरए, एस अणगारे त्ति पवुच्चति।

४०. (अहिंसा में आस्था रखने वाला यह संकल्प करें)—मैं संयम अंगीकार करके वह हिंसा नहीं करूंगा। बुद्धिमान संयम में स्थिर होकर मनन करे और 'प्रत्येक जीव अभय चाहता है' यह जानकर (हिंसा न करें) जो हिंसा नहीं करता, वही व्रती है। इस अर्हत्-शासन में जो व्रती है, वही अनगार कहलाता है।

विवेचन—इस सूत्र में अहिंसा को जीवन में साकार करने के दो साधन बताये हैं जैसे मनन;—बुद्धिमान पुरुष जीवो के स्वरूप आदि के विषय में गम्भीरतापूर्वक चिन्तन मनन करें। अभय जाने—फिर यह जानें कि जैसे मुझे 'अभय' प्रिय है, मैं कही से भी भय नहं चाहता, वैसे ही कोई भी जीव भय नही चाहता। सबको अभय प्रिय है। इस बात पर मन करने से प्रत्येक जीव के साथ आत्म-एकत्व की अनुभूति होती है। इससे अहिंसा की आस्थ सुदृढ़ एवं सुस्थिर हो जाती है।

टीकाकार ने 'अभय' का अर्थ संयम भी किया है। तदनुसार 'अभयं विदित्ता' का अ है—संयम को जान कर।[1]

४१. ज गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे।
उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति।
उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि।
एस लोगे वियाहिते।
एत्थ अगुत्ते अणाणाए पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे।

४१. जो गुण (शब्दादि विषय) है, वह आवर्त संसार है। जो आवर्त है वह गुण है।

ऊँचे, नीचे, तिरछे, सामने देखनेवाला रूपों को देखता है। सुनने वाला शब्दों को सुनता है।

ऊँचे, नीचे, तिरछे, सामने—विद्यमान वस्तुओं में आसक्ति करने वाला, रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों में मूर्च्छित होता है।

यह (आसक्ति) ही संसार कहा जाता है।

जो पुरुष यहाँ (विषयों में) अगुप्त है। इन्द्रिय एवं मन से असंयत है, वह आज्ञा—धर्म शासन के बाहर है।

---

१ अभयमत्र सर्वस्मिन् सत्त्वानामित्यभय —संयम। —आचा० टीका पत्रांक ५६।१

जो बार-बार विषयो का आस्वाद करता है। उनका भोग-उपभोग करता है, यह वक्र समाचार—अर्थात् असंयममय जीवन वाला है। वह प्रमत्त है। तथा गृहत्यागी कहलाते हुए भी वास्तव में गृहवासी ही है।

विवेचन—'गुण' शब्द के अनेक अर्थ हैं। आगमों के व्याख्याकार आचार्यों ने निक्षेप पद्धति द्वारा गुण की पन्द्रह प्रकार से विभिन्न व्याख्याएं की हैं।[1] प्रस्तुत में गुण का अर्थ है—पांच इन्द्रियों के ग्राह्य विषय। ये क्रमशः यों है—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। ये ऊंची-नीची आदि सभी दिशाओं में मिलते हैं। इन्द्रियो के द्वारा आत्मा इनको ग्रहण करता है, सुनता है, देखता है, सूंघता है, चखता है और स्पर्श करता है। ग्रहण करना इन्द्रिय का गुण है। ग्रहीत विषयों के प्रति मूर्च्छा करना मन या चेतना का कार्य है। जब मन विषयों के प्रति आसक्त होता है तब विषय मन के लिए बन्धन या आवर्त बन जाता है। आवर्त का शब्दार्थ है—समुद्रादि का वह जल, जो वेग के साथ चक्राकार घूमता रहता है। भंवर जाल/घूम चक्कर। भाव रूप में विषय व संसार अथवा शब्दादि गुण आवर्त है।[2]

शास्त्रकार ने बताया है, रूप एवं शब्द आदि का देखना-सुनना स्वयं मे कोई दोष नही है, किन्तु उनमें आसक्ति (राग या द्वेष) होने से आत्मा उनमें मूच्छित हो जाता है, फंस जाता है। यह आसक्ति ही संसार है। अनासक्त आत्मा ससार में स्थित रहता हुआ भी संसार-मुक्त कहलाता है।

दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है, वह बार-बार विषयों का सेवन करता है। उसका यह आचरण वक्र-समाचार है, कपटाचरण है, क्योंकि ऊपर से वह त्यागी दीखता है, मुनिवेष धारण किये हुए है, किन्तु वास्तव में वह प्रमादी है, गृहवासी है और जिन भगवान की आज्ञा से बाहर है।

प्रस्तुत उद्देशक में वनस्पतिकाय की हिंसा का निषेध किया गया है, यहाँ पर शब्दादि विषयों का वर्णन सहसा अप्रासंगिक-सा लग सकता है। अतः टीकाकार ने इसकी संगति बैठाते हुए कहा है—शब्दादि विषयो की उत्पत्ति का मुख्य साधन वनस्पति ही है। वनस्पति से ही वीणा आदि वाद्य, विभिन्न रंग, रूप, पुष्पादि के गंध, फल आदि के रस व रुई आदि के स्पर्श की निष्पत्ति होती है।[3] अत. वनस्पति के वर्णन से पूर्व उसके उत्पाद/वनस्पति से निष्पन्न वस्तुओं में अनासक्त रहने का उपदेश करके प्रकारान्तर से उसकी हिंसा न करने का ही उपदेश किया है। हिंसा का मूल हेतु भी आसक्ति ही है। अगर आसक्ति न रहे तो विभिन्न दिशाओ/क्षेत्रो में स्थित ये शब्दादि गुण आत्मा के लिए कुछ भी अहित नही करते।

वनस्पतिकाय-हिंसा-वर्जन

४२. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं

---

१. अभिधान राजेन्द्र भाग ३, 'गुण' शब्द।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक ५६
३. आचा० टीका पत्रांक ५७।१

सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

४३. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वणस्सतिसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वणस्सतिसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वणस्सतिसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति ।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

४४. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए । सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सतिकम्मसमारंभेणं वणस्सति-सत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति ।

४२. तू देख ! ज्ञानी हिंसा से लज्जित/विरत रहते हैं । 'हम गृह त्यागी है,' यह कहते हुए भी कुछ लोग नानाप्रकार के शस्त्रों से, वनस्पतिकायिक जीवों का समारंभ करते हैं । वनस्पतिकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करते हैं ।

४३. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का उपदेश किया है—इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म, मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, वह (तथाकथित साधु) स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है, करने वाले का अनुमोदन करता है ।

यह (हिंसा—करना, कराना, अनुमोदन करना) उसके अहित के लिए होता है । यह उसकी अबोधि के लिए होता है ।

४४. यह समझता हुआ साधक संयम में स्थिर हो जाए । भगवान से या त्यागी अनगारों के समीप सुनकर उसे इस बात का ज्ञान हो जाता है—'यह (हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।'

फिर भी मनुष्य इसमें आसक्त हुआ, नानाप्रकार के शस्त्रों से वनस्पतिकाय का समारंभ करता है और वनस्पतिकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की भी हिंसा करता है ।

<u>मनुष्य शरीर एवं वनस्पति शरीर की समानता</u>

४५. से बेमि—इमं पि जातिधम्मयं, एयं पि जातिधम्मयं;
इमं पि वुड्ढिधम्मयं, एयं पि वुड्ढिधम्मयं;
इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं;
इमं पि छिण्णं मिलाति, एयं पि छिण्णं मिलाति;
इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं;

इमं पि अणितियं,[1] एयं पि अणितियं;[2]
इमं पि असासयं, एयं पि असासयं;
इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं;
इमं पि विप्परिणामधम्मयं, एयं पि विप्परिणामधम्मयं।

४५. मैं कहता हूँ—

यह मनुष्य भी जन्म लेता है, यह वनस्पति भी जन्म लेती है।
यह मनुष्य भी बढ़ता है, यह वनस्पति भी बढ़ती है।
यह मनुष्य भी चेतना युक्त है, यह वनस्पति भी चेतना युक्त है।
यह मनुष्य शरीर छिन्न होने पर म्लान हो जाता है, यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है।
यह मनुष्य भी आहार करता है, यह वनस्पति भी आहार करती है।
यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है, यह वनस्पति का शरीर भी अनित्य है।
यह मनुष्य शरीर भी अशाश्वत है, यह वनस्पति शरीर भी अशाश्वत है।

यह मनुष्य शरीर भी आहार से उपचित होता है, आहार के अभाव में अपचित/क्षीण/दुर्बल होता है।

यह वनस्पति का शरीर भी इसी प्रकार उपचित-अपचित होता है।
यह मनुष्य शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।
यह वनस्पति शरीर भी अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

विवेचन—भारत के प्रायः सभी दार्शनिकों ने वनस्पति को सचेतन माना है। किन्तु वनस्पति में ज्ञान-चेतना अल्प होने के कारण उसके सम्बन्ध में दार्शनिकों ने कोई विशेष चिन्तन-मनन नहीं किया। जैनदर्शन में वनस्पति के सम्बन्ध में बहुत ही सूक्ष्म व व्यापक चिन्तन किया गया है। मानव-शरीर के साथ जो इसकी तुलना की गई है, यह आज के वैज्ञानिकों के लिए भी आश्चर्यजनक व उपयोगी तथ्य है। जब सर जगदीशचन्द्र बोस ने वनस्पति में मानव के समान ही चेतना की वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा सिद्धि कर बताई थी, तब से जैनदर्शन का वनस्पति-सिद्धान्त एक वैज्ञानिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो गया है।

वनस्पति विज्ञान (Botany) आज जीव-विज्ञान का प्रमुख अंग बन गया है। सभी जीवों को जीवन-निर्वाह करने, वृद्धि करने, जीवित रहने और प्रजनन (संतानोत्पत्ति) के लिए भोजन किंवा ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। यह ऊर्जा सूर्य से फोटोन (Photon) तरंगों के रूप में पृथ्वी पर आती है। इसे ग्रहण करने की क्षमता सिर्फ पेड़-पौधों में ही है। पृथ्वी के सभी प्राणी पौधों से ही ऊर्जा (जीवनी शक्ति) प्राप्त करते हैं। अतः पेड़-पौधों (वनस्पति) का मानव जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। वैज्ञानिक व चिकित्सा-वैज्ञानिक मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों का, रोगों का, तथा आनुवंशिक गुणों का अध्ययन करने के लिए आज 'वनस्पति' (पेड़-पौधों) का अध्ययन करते हैं। अतः वनस्पति-विज्ञान के क्षेत्र में आगम सम्मत वनस्पति-कायिक जीवों की मानव शरीर के साथ तुलना बहुत अधिक महत्त्व रखती है।

१, २ पाठान्तर 'अणिच्चयं'।

४६. एत्य सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति। एत्य सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

४७. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वणस्सतिसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वणस्सतिसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे वणस्सतिसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

४८. जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

४६. जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र का समारंभ करता है, वह उन आरंभों/आरंभजन्य कटुफलों से अनजान रहता है। (जानता हुआ भी अनजान है।)

जो वनस्पतिकायिक जीवों पर शस्त्र प्रयोग नहीं करता, उसके लिए आरंभ परिज्ञात है।

४७. यह जानकर मेधावी स्वयं वनस्पति का समारंभ न करे, न दूसरों से समारंभ करवाए और न समारंभ करने वालों का अनुमोदन करे।

४८. जिसको यह वनस्पति सम्बन्धी समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञात कर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

संसार-स्वरूप

४६. से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोतया जराउया रसया संसेयया[1] सम्मुच्छिमा उब्भिया उववातिया। एस संसारे त्ति पवुच्चति। मंदस्स अवियाणओ।

णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं। सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूताणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सातं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खं ति बेमि।

तसंति पाणा पदिसो दिसासु य।

तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

संति पाणा पुढो सिया।

४६. मैं कहता हूँ—

ये सब त्रस प्राणी हैं, जैसे—अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक। यह (त्रस जीवों का समन्वित क्षेत्र) संसार कहा जाता है। मंद तथा अज्ञानी जीव को यह संसार होता है।

1 पाठान्तर—संसेइमा।

मैं चिन्तन कर, सम्यक् प्रकार देखकर कहता हूँ—प्रत्येक प्राणी परिनिर्वाण (शान्ति और सुख) चाहता है।

सब प्राणियों, सब भूतों, सब जीवों और सब सत्वों को असाता (वेदना) और अपरिनिर्वाण (अशान्ति) ये महाभयंकर और दुःखदायी हैं। मैं ऐसा कहता हूँ।

ये प्राणी दिशा और विदिशाओं में, सब ओर से भयभीत/त्रस्त रहते हैं।

तू देख, विषय-सुखाभिलाषी आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर इन जीवों को परिताप देते रहते हैं।

त्रसकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित रहते हैं।

विवेचन—इस सूत्र में त्रसकायिक जीवों के विषय में कथन है। आगमों में संसारी जीवों के दो भेद बताये गये हैं—स्थावर और त्रस। जो दुख से अपनी रक्षा और सुख का आस्वाद करने के लिए हलन-चलन करने की क्षमता रखता हो, वह 'त्रस' जीव है। इसके विपरीत स्थिर रहने वाला 'स्थावर'। द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी 'त्रस' होते हैं। एक मात्र स्पर्शनेन्द्रिय वाले स्थावर। उत्पत्ति-स्थान की दृष्टि से त्रस जीवों के आठ भेद किये गये हैं—

१. अंडज——अंडों से उत्पन्न होने वाले—मयूर, कबूतर, हंस आदि।

२. पोतज—पोत अर्थात् चर्ममय थैली। पोत से उत्पन्न होने वाले पोतज—जैसे हाथी, वल्गुली आदि।

३. जरायुज—जरायु का अर्थ है गर्भ-वेष्टन या वह झिल्ली, जो जन्म के समय शिशु को आवृत किये रहती है। इसे 'जेर' भी कहते हैं। जरायु के साथ उत्पन्न होने वाले हैं जैसे—गाय, भैंस आदि।

४. रसज—छाछ, दही आदि रस विकृत होने पर इनमें जो कृमि आदि उत्पन्न हो जाते हैं वे 'रसज' कहे जाते हैं।

५ संस्वेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले। जैसे—जूँ, लीख आदि।

६. सम्मूर्च्छिम—बाहरी वातावरण के संयोग से उत्पन्न होने वाले, जैसे—मक्खी, मच्छर, चींटी, भ्रमर आदि।

७. उद्भिज्ज—भूमि को फोड़कर निकलने वाले, जैसे—टीड़, पतंगे आदि।

८. औपपातिक—'उपपात' का शाब्दिक अर्थ है सहसा घटने वाली घटना। आगम की दृष्टि से देवता शय्या में, नारक कुम्भी में उत्पन्न होकर एक मुहूर्त के भीतर ही पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए वे औपपातिक कहलाते हैं।

इन आठ प्रकार के जीवों में प्रथम तीन 'गर्भज' चौथे से सातवें भेद तक 'सम्मूर्च्छन', और देव-नारक औपपातिक हैं। ये 'सम्मूर्च्छनज, गर्भज, उपपातज—इन तीन भेदों में समाहित हो जाते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र (२/३२) में ये तीन भेद ही गिनाये हैं।

इन जीवों को संसार कहने का अभिप्राय यह है कि—यह अष्टविध योनि-संग्रह ही जीवों के जन्म-मरण तथा गमनागमन का केन्द्र है। अतः इसे ही संसार समझना चाहिए।

(१) मंदता, विवेक बुद्धि की अल्पता, तथा (२) अज्ञान। संसार में परिभ्रमण अर्थात् जन्म-मरण के ये दो मुख्य कारण हैं। विवेक दृष्टि एवं ज्ञान जाग्रत होने पर मनुष्य संसार से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

'परिनिर्वाण' शब्द वैसे मोक्ष का वाचक है। 'निर्वाण' का शब्दार्थ है बुझ जाना। जैसे तेल के क्षय होने से दीपक बुझ जाता है, वैसे राग-द्वेष के क्षय होने से संसार (जन्म-मरण) समाप्त हो जाता है और आत्मा सब दुःखों से मुक्त होकर अनन्त सुखमय-स्वरूप प्राप्त कर लेता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में 'परिनिर्वाण' का यह व्यापक अर्थ ग्रहण नहीं कर 'परिनिर्वाण' से सर्वविध सुख, अभय, दुख और पीड़ा का अभाव आदि अर्थ ग्रहण किया गया है।[1] और बताया गया है कि प्रत्येक जीव सुख, शान्ति और अभय का आकांक्षी है। अशान्ति, भय, वेदना उनको महान भय व दुःखदायी होता है। अतः उनकी हिंसा न करे।

प्राण, भूत, जीव, सत्त्व—ये चारों शब्द—सामान्यतः जीव के ही वाचक हैं। शब्दनय (समभिरूढ नय) की अपेक्षा से इनके अलग-अलग अर्थ भी किये गये हैं। जैसे भगवती सूत्र (२/१) में बताया है—

दश प्रकार के प्राण युक्त होने से—प्राण है।

तीनों काल में रहने के कारण—भूत है।

आयुष्य कर्म के कारण जीता है—अतः जीव है।

विविध पर्यायों का परिवर्तन होते हुए भी आत्म-द्रव्य की सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, अतः सत्त्व है।

टीकाकार आचार्य शीलांक ने निम्न अर्थ भी किया है—

> प्राणाः द्वित्रिचतुःप्रोक्ता भूतास्तु तरवः स्मृताः।
> जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः।[2]

प्राण—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव। भूत—वनस्पति कायिक जीव। जीव—पांच इन्द्रियवाले जीव,—तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक। सत्त्व—पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु काय के जीव।

त्रस काय-हिंसा निषेध

५०. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेणं तसकायसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

५०. तू देख! संयमी साधक जीव हिंसा में लज्जा/ग्लानि/संकोच का अनुभव करते हैं। और उनको भी देख, जो 'हम गृहत्यागी है' यह कहते हुए भी अनेक प्रकार के उपकरणों से त्रसकाय का समारंभ करते हैं। त्रसकाय की हिंसा करते हुए वे अन्य अनेक प्राणों की भी हिंसा करते हैं।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक ६४,   २ वही, पत्रांक ६४

५१. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव तसकायसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा तसकायसत्थं समारंभमाणे समणुजाणति।

तं से अहिताए, तं से अबोधीए।

५१. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है।

कोई मनुष्य इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मरण और मुक्ति के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए, स्वयं भी त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है तथा हिंसा करते हुए का अनुमोदन भी करता है। यह हिंसा उसके अहित के लिए होती है। अबोधि के लिए होती है।

त्रसकाय हिंसा के विविध हेतु

५२. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए।

सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायकम्मसमारंभेणं तसकायसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

से बेमि—

अप्पेगे अच्चाए वधेंति, अप्पेगे अजिणाए वधेंति, अप्पेगे मंसाए वधेंति; अप्पेगे सोणिताए वधेंति, अप्पेगे हिययाए वधेंति, एवं पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणीए अट्ठिए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए।

अप्पेगे हिंसिंसु मे त्ति वा, अप्पेगे हिंसंति वा, अप्पेगे हिंसिस्संति वा णे वधेंति।

५२. वह संयमी, उस हिंसा को/हिंसा के कुपरिणामों को सम्यक्प्रकार से समझते हुए संयम में तत्पर हो जावे।

भगवान से या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुनकर कुछ मनुष्य यह जान लेते हैं कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य इस हिंसा में आसक्त होता है। वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रसकायिक जीवों का समारंभ करता है। त्रसकाय का समारंभ करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों का भी समारंभ/हिंसा करता है।

मैं कहता हूँ—

कुछ मनुष्य अर्चा (देवता की बलि या शरीर के शृंगार) के लिए जीव हिंसा करते हैं। कुछ मनुष्य चर्म के लिए, मांस, रक्त, हृदय (कलेजा) पित्त, चर्बी, पंख, पूँछ, केश, सींग, विषाण (सुअर का दांत,) दांत, दाढ, नख, स्नायु, अस्थि (हड्डी) और

अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं। कुछ किसी प्रयोजन वश, कुछ निष्प्रयोजन/व्यर्थ ही जीवों का वध करते हैं।

कुछ व्यक्ति (इन्होंने मेरे स्वजनादि की) हिंसा की, इस कारण (प्रतिशोध की भावना से) हिंसा करते है।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजन आदि की) हिंसा करता है, इस कारण (प्रतीकार की भावना से) हिंसा करते हैं।

कुछ व्यक्ति (यह मेरे स्वजनादि की हिंसा करेगा) इस कारण (भावी आतंक/भय की संभावना से) हिंसा करते हैं।

५३. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति।

एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवंति।

५३. जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, वह इन आरंभ (आरंभ जनित कुपरिणामों) से अनजान ही रहता है।

जो त्रसकायिक जीवों की हिंसा नहीं करता है, वह इन आरंभों से सुपरिचित/मुक्त रहता है।

५४. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं तसकायसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं तसकाय-सत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे तसकायसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

५४. यह जानकर बुद्धिमान् मनुष्य स्वयं त्रसकाय-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से समारंभ न करवाए, समारंभ करने वालों का अनुमोदन भी न करे।

५५. जस्सेते तसकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

५५. जिसने त्रसकाय-सम्बन्धी समारंभों (हिंसा के हेतुओं/उपकरणों/कुपरिणामों) को जान लिया, वही परिज्ञातकर्मा (हिंसा-त्यागी) मुनि होता है।

॥ छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ

सप्तम उद्देशक

आत्म-तुला-विवेक

५६. पभू एजस्स दुगुंछणाए । आतंकदंसी अहियं ति णच्चा ।
जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति, जे बहिया जाणति से अज्झत्थं जाणति ।
एयं तुलमण्णेसिं ।
इह संतिगता दविया णावकंखंति जीविउं ।[1]

५६. साधनाशील पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, उसे अहित मानता है। अत: वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ होता है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य (संसार) को भी जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

इस तुला (स्व-पर की तुलना) का अन्वेषण कर, चिन्तन कर! इस (जिन शासन में) जो शान्ति प्राप्त—(कषाय जिनके उपशान्त हो गये हैं) और दयार्द्र हृदय वाले (द्रविक) मुनि हैं, वे जीव-हिंसा करके जीना नही चाहते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में वायुकायिक जीवो की हिंसा-निषेध का वर्णन है। एज का अर्थ है वायु, पवन। वायुकायिक जीवो की हिंसा निवृत्ति के लिए 'दुगुञ्छा'—जुगुप्सा शब्द एक नया प्रयोग है। आगमो में प्रायः दुगुंच्छा' शब्द गर्हा, ग्लानि, लोक-निंदा, प्रवचन-हीलना एवं साध्वाचार की निंदा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यहा पर यह 'निवृत्ति' अर्थ का बोध कराता है।]

इस सूत्र मे हिंसा-निवृत्ति के तीन विशेष हेतु/आलम्बन बताये हैं।

१. आतंक-दर्शन—हिंसा से होने वाले कष्ट/भय/उपद्रव एवं पारलौकिक दुःख आदि को आगम वाणी तथा आत्म-अनुभव से देखना।

२. अहित-चिंतन—हिंसा से आत्मा का अहित होता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि की उपलब्धि दुर्लभ होती है, आदि को जानना/समझना।

३: आत्म-तुलना—अपनी सुख-दुख की वृत्तियों के साथ अन्य जीवों की तुलना करना। जैसे मुझे सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। यह *आत्म-तुलना या आत्मौपम्य की भावना है।*

अहिंसा का पालन भी अंधानुकरण वृत्ति से अथवा मात्र पारम्परिक नही होना चाहिए, किन्तु ज्ञान और करुणापूर्वक होना चाहिए। जीव मात्र को अपनी आत्मा के समान समझना, प्रत्येक जीव के कष्ट को स्वयं का कष्ट समझना तथा उनकी हिंसा करने से सिर्फ उन्हें ही नही, स्वयं को भी कष्ट/भय तथा उपद्रव होगा, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि होगी और

---

१ आचाराग (मुनि जम्बूविजय जी) टिप्पणी पृ० १४ चूर्णी—वीयितु, वीजिऊ—इति पाठान्तरौ। "तालियटमादिएहिं गात बाहिर वावि पोग्गल ण कखति वीयितुं।"

अकल्याण होगा, इस प्रकार का आत्म-चिन्तन और आत्म-संप्रेक्षा करके अहिंसा की भावना को संस्कारबद्ध बनाना—यह उक्त आलम्बनों का फलितार्थ है।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है—इस पद का कई दृष्टियों से चिन्तन किया जा सकता है।

१. अध्यात्म का अर्थ है—चेतन/आत्म-स्वरूप। चेतन के स्वरूप का बोध हो जाने पर इसके प्रतिपक्ष 'जड' का स्वरूप-बोध स्वयं ही हो जाता है। अतः एक पक्ष को सम्यग् प्रकार से जानने वाला उसके प्रतिपक्ष को भी सम्यग् प्रकार से जान लेता है। धर्म को जानने वाला अधर्म को, पुण्य को जानने वाला पाप को, प्रकाश को जानने वाला अंधकार को जान लेता है।

२. अध्यात्म का एक अर्थ है—आन्तरिक जगत् अथवा जीव की मूल वृत्ति—सुख की इच्छा, जीने की भावना। शान्ति की कामना। जो अपनी इन वृत्तियों को पहचान लेता है, वह बाह्य—अर्थात् अन्य जीवों की इन वृत्तियों को भी जान लेता है। अर्थात् स्वयं के समान ही अन्य जीव सुखप्रिय एवं शान्ति के इच्छुक हैं, यह जान लेना वास्तविक अध्यात्म है। इसी से आत्म-तुला की धारणा संपुष्ट होती है।

शांति-गत—का अर्थ है—जिसके कषाय/विषय/तृष्णा आदि शान्त हो गये हैं, जिसकी आत्मा परम प्रसन्नता का अनुभव करती है।

द्रविक—'द्रव' का अर्थ है—घुलनशील या तरल पदार्थ। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में 'द्रव' का अर्थ है, हृदय की तरलता, सरलता, दयालुता और संयम। इसी दृष्टि से टीकाकार ने 'द्रविक' का अर्थ किया है—करुणाशील संयमीपुरुष। पराये दुःख से द्रवीभूत होना सज्जनों का लक्षण है। अथवा कर्म की कठिनता को द्रवित—पिघालने वाला 'द्रविक' है।[1]

जीविउं—कुछ प्रतियों में 'बीजिउं' पाठ भी है। वायुकाय की हिंसा का वर्णन होने से यहाँ पर उसकी भी संगति बैठती है कि वे संयमी वीजन (हवा लेना) की आकांक्षा नहीं करते। चूर्णिकार ने भी कहा है—मुनि तालपत्र आदि बाह्य पुद्गलों से बीजन लेना नहीं चाहते हैं, साथ ही चूर्णि में 'जीवितु' पाठान्तर भी दिया है।[2]

वायुकायिक-जीव हिंसा-वर्जन

५७. लज्जमाणा पुढो पास। 'अणगारा मो' त्ति एगे पवयमाणा, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

५८. तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता—इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए जाती-मरण-मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं से सयमेव वाउसत्थं समारभति, अण्णेहिं वा वाउसत्थं समारभावेति, अण्णे वा वाउसत्थं समारभंते समणुजाणति।

तं से अहियाए, तं से अबोधीए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्र ७०।१

२. देखें, पृष्ठ ३३ पर टिप्पण

५९. से त्तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए। सोच्चा भगवतो अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए।

इच्चत्थं गढिए लोगे, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वाउकम्मसमारंभेणं वाउसत्थं समारभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति।

६०. से बेमि—संति संपाइमा पाणा आहच्च संपतंति य।

फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्जंति। जे तत्थ संघायमावज्जंति ते तत्थ परियाविज्जंति। जे तत्थ परियाविज्जंति ते तत्थ उद्दायंति।

एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवंति।

एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवंति।

६१. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं वाउसत्थं समारभेज्जा, णेवऽण्णेहिं वाउसत्थं समारभावेज्जा, णेवऽण्णे वाउसत्थं समारभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते वाउसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिणायकम्मे त्ति बेमि।

५७. तू देख! प्रत्येक संयमी पुरुष हिंसा में लज्जा/ग्लानि का अनुभव करता है। उन्हें भी देख, जो 'हम गृहत्यागी हैं' यह कहते हुए विविध प्रकार के शस्त्रों/साधनों से वायुकाय का समारंभ करते हैं। वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करते हुए अन्य अनेक प्राणियों की हिंसा करते हैं।

५८. इस विषय में भगवान ने परिज्ञा/विवेक का निरूपण किया है। कोई मनुष्य, इस जीवन के लिए, प्रशंसा, सन्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोक्ष के लिए, दुःख का प्रतीकार करने के लिए स्वयं वायुकाय-शस्त्र का समारंभ करता है, दूसरों से वायुकाय का समारंभ करवाता है तथा समारंभ करने वालों का अनुमोदन करता है।

वह हिंसा, उसके अहित के लिए होती है। वह हिंसा, उसकी अबोधि के लिए होती है।

५९. वह अहिंसा-साधक, हिंसा को भली प्रकार से समझता हुआ संयम में सुस्थिर हो जाता है।

भगवान के या गृहत्यागी श्रमणों के समीप सुनकर उन्हें यह ज्ञात होता है कि यह हिंसा ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है।

फिर भी मनुष्य हिंसा में आसक्त हुआ, विविध प्रकार के शस्त्रों से वायुकाय की हिंसा करता है। वायुकाय की हिंसा करता हुआ अन्य अनेक प्रकार के जीवों की हिंसा करता है।

६०. मैं कहता हूं—

संपातिम—उड़ने वाले प्राणी होते हैं, वे वायु से प्रताड़ित होकर नीचे गिर जाते हैं।

वे प्राणी वायु का स्पर्श/आघात होने से सिकुड़ जाते हैं। जब वे वायु-स्पर्श से संघातित होते/सिकुड़ जाते हैं, तब वे मूर्च्छित हो जाते हैं। जब वे जीव मूर्च्छा को प्राप्त होते हैं तो वहाँ मर भी जाते हैं। जो यहां वायुकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह इन आरंभों से वास्तव में अनजान है।

जो वायुकायिक जीवों पर शस्त्र-समारंभ नहीं करता, वास्तव में उसने आरंभ को जान लिया है।

६१. यह जानकर बुद्धिमान मनुष्य स्वयं वायुकाय का समारंभ न करे। दूसरों से वायुकाय का समारंभ न करवाए। वायुकाय का समारंभ करने वालों का अनुमोदन न करे।

जिसने वायुकाय के शस्त्र-समारंभ को जान लिया है, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (हिंसा का त्यागी) है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में वायुकाय की हिंसा का निषेध है। वायु को सचेतन मानना और उसकी हिंसा से बचना—यह भी निर्ग्रन्थ दर्शन की मौलिक विशेषता है।

सामान्य क्रम में पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति, त्रस यों आना चाहिए था, किन्तु यहाँ पर क्रम तोड़कर वायुकाय को वर्णन के सबसे अन्त में लिया है। टीकाकार ने इस शंका का समाधान करते हुए कहा है—षट्काय में वायुकाय का शरीर चर्म-चक्षुओं से दीखता नहीं है, जबकि अन्य पांचों का शरीर चक्षुगोचर है। इस कारण वायुकाय का विषय—अन्य पांचों की अपेक्षा दुर्बोध है। अतः यहाँ पर पहले उन पांचों का वर्णन करके अन्त में वायुकाय का वर्णन किया गया है।[1]

विरति-बोध

६२. एत्थं पि जाण उवादीयमाणा, जे आयारे ण रमंति
आरंभमाणा विणयं वयंति
छंदोवणीया अज्झोववण्णा
आरंभसत्ता पकरेंति संगं।

से वसुमं सव्वसमन्नागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं णो अण्णेसि।

तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभेज्जा, णेवऽण्णेहिं छज्जीवणिकायसत्थं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे छज्जीवणिकायसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

जस्सेते छज्जीवणिकायसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे त्ति बेमि।

॥ सत्थपरिण्णा समत्तो ॥

---

१ टीका० टीका पत्रांक १८

६२. तुम यहाँ जानो ! जो आचार (अहिंसा/आत्म-स्वभाव) में रमण नहीं करते, वे कर्मों से/आसक्ति की भावना से बंधे हुए हैं। वे आरंभ करते हुए भी स्वयं को संयमी बताते हैं अथवा दूसरों को विनय—संयम का उपदेश करते हैं।

वे स्वच्छन्दचारी और विषयों में आसक्त होते हैं।

वे (स्वच्छन्दचारी) आरंभ में आसक्त रहते हुए, पुन-पुनः कर्म का संग—बन्धन करते हैं।

वह वसुमान् (ज्ञान-दर्शन-चारित्र-रूप धन से संयुक्त) सब प्रकार के विषयों पर प्रज्ञापूर्वक विचार करता है, अन्त.करण से पाप-कर्म को अकरणीय—न करने योग्य जाने, तथा उस विषय में अन्वेषण—मन से चिन्तन भी न करे।

यह जानकर, मेधावी मनुष्य स्वयं षट्-जीवनिकाय का समारंभ न करे। दूसरों से उसका समारंभ न करवाए। उसका समारंभ करनेवालों का अनुमोदन न करे।

जिसने-षट्-जीव निकाय-शस्त्र का प्रयोग भलीभाँति समझ लिया, त्याग दिया है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि कहलाता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

॥ शस्त्रपरिज्ञा प्रथम अध्ययन समाप्त ॥

लोकविजय—द्वितीय अध्ययन

प्रायमिक

- ✡ इस अध्ययन का प्रसिद्ध नाम—लोग-विजय है।
- ✡ कुछ विद्वानों का मत है कि इसका प्राचीन नाम 'लोक-विचय' होना चाहिए।[1] प्राकृ भाषा में 'च' के स्थान पर 'ज' हो जाता है। किन्तु टीकाकार ने 'विजय' को 'विचय' न मानकर 'विजय' संज्ञा ही दी है।
- ✡ विचय—धर्म ध्यान का एक भेद व प्रकार है। इसका अर्थ है—चिन्तन, अन्वेषण, तथ पर्यालोचन।
- ✡ विजय—का अर्थ है पराक्रम, पुरुषार्थ तथा आत्म-नियन्त्रण।
- ✡ प्रस्तुत अध्ययन की सामग्री को देखते हुए 'विचय' नाम भी उपयुक्त लगता है। क्योंकि इसमें लोक—संसार का स्वरूप, शरीर का भंगुर धर्म, ज्ञातिजनों की अशरणता, विषयों पदार्थों की अनित्यता आदि का विचार करते हुए साधक को आसक्ति का बन्ध तोड़ने की हृदयस्पर्शी प्रेरणा दी गई है। आज्ञा-विचय, अपाय-विचय आदि धर्मध्यान के भेदों में भी इसी प्रकार के चिन्तन की मुख्यता रहती है। अतः 'विचय' नाम की सार्थ कता सिद्ध होती है।
- ✡ साथ ही संयम में पुरुषार्थ, अप्रमाद तथा साधना में आगे बढ़ने की प्रेरणा, कषाय आदि अन्तरंग शत्रुओं को 'विजय' करने का उद्घोष भी इस अध्ययन में पद-पद पर मुखरित है।
- ✡ 'विचय'—ध्यान व निर्वेद का प्रतीक है।
- ✡ 'विजय'—पराक्रम और पुरुषार्थ का बोधक है।
- ✡ प्रस्तुत अध्ययन में दोनों ही विषय समाविष्ट है। फिर भी हमने परम्परागत व टीका कार द्वारा स्वीकृत 'विजय' नाम ही स्वीकार किया है।[2]
- ✡ निर्युक्ति (गाथा १७५) में लोक का आठ प्रकार से निक्षेप करके बताया है कि लोक नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव, पर्याय—यों आठ प्रकार का है।
- ✡ प्रस्तुत में 'भाव लोक' से सम्बन्ध है। इसलिए कहा है—

भावे कसायलोगो, अहिगारो तस्स विजएण।—१७५

---

१. पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ५९६ डा बी० भट्ट का लेख 'दि लोक विजय निशेन एण्ड लोक विचय'

२. आचा० टीका पत्रांक ७५

भाव लोक का अर्थ है—क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों का समूह। यहाँ उस भाव लोक की विजय का अधिकार है। क्योंकि कषाय-लोक पर विजय प्राप्त करने वाला साधक काम-निवृत्त हो जाता है। और—

काम नियत्तमई खलु संसारा मुच्चई खिप्पं।—१७७

काम—निवृत्त साधक, संसार से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

☆ प्रथम उद्देशक में भाव लोक (संसार) का मूल—शब्दादि विषय तथा स्वजन आदि का स्नेह बताकर उनके प्रति अनासक्त होने का उपदेश है। पश्चात् द्वितीय उद्देशक में संयम में अरति का त्याग, तृतीय में गोत्र आदि मदों का परिहार, चतुर्थ में परिग्रह मूढ की दशा, भोग रोगोत्पत्तिका मूल, आशा-तृष्णा का परित्याग, भोग-विरति एवं पंचम उद्देशक में लोक निश्रा मे विहार करते हुए संयम में उद्यमशीलता एवं छठे उद्देशक में ममत्व का परिहार आदि विविध विषयो का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है।[1]

☆ इस अध्ययन में छह उद्देशक है। सूत्र संख्या ६३ से प्रारम्भ होकर १०५ पर समाप्त होती है।

□□

१. आचारांग शीलांक टीका, पत्रांक ७४-७५

'लोगविजयो' बीअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

लोकविजय: द्वितीय अध्ययन . प्रथम उद्देशक

<u>संसार का मूल . आसक्ति</u>

६३. जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे ।

इति से गुणट्ठी महता परितावेणं वसे पमत्ते । तं जहा—माता मे, पिता मे, भाया मे, भगिणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सयण-संगंथ-संथुता मे, [1]विवित्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे ।

इच्चत्थं गढिए लोए वसे पमत्ते । अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो ।

६३. जो गुण (इन्द्रिय विषय) है, वह (कषायरूप संसार का) मूल स्थान है। जो मूल स्थान है, वह गुण है।

इस प्रकार (आगे कथ्यमान) विषयार्थी पुरुष, महान परिताप से प्रमत्त होकर, जीवन बिताता है।

वह इस प्रकार मानता है—"मेरी माता है, मेरा पिता है, मेरा भाई है, मेरी बहन है, मेरी पत्नी है, मेरा पुत्र है, मेरी पुत्री है, मेरी पुत्र-वधू है, मेरा सखा-स्वजन-सम्बन्धी-सहवासी है, मेरे विविध प्रचुर उपकरण (अश्व, रथ, आसन आदि) परिवर्तन (देने-लेने की सामग्री) भोजन तथा वस्त्र हैं।

इस प्रकार—मेरे पन (ममत्व) में आसक्त हुआ पुरुष; प्रमत्त होकर उनके साथ निवास करता है।

वह प्रमत्त तथा आसक्त पुरुष रात-दिन परितप्त/चिन्ता एवं तृष्णा से आकुल रहता है। काल या अकाल में (समय-बेसमय/हर समय) प्रयत्नशील रहता है। वह संयोग का अर्थी होकर, अर्थ का लोभी बनकर लूट-पाट करने वाला (चोर या डाकू) बन जाता है। सहसाकारी—दुःसाहसी और बिना विचारे कार्य करने वाला हो जाता है। विविध प्रकार की आशाओं में उसका चित्त फंसा रहता है। वह बार-बार शस्त्र प्रयोग करता है। संहारक/आक्रामक बन जाता है।

---

१. चूर्णि में 'विवित्त' पाठ है, जिसका अर्थ किया है—'प्रभूत, अणेगप्रकारं विवित्तं च' टीकाकार 'विचित्त' पाठ मानकर अर्थ किया है—विचित्रं शोभनं प्रचुरं वा। —टीका पत्रांक ६

विवेचन—सूत्र ४१ में 'गुण' को 'आवर्त' बताया है। यहाँ उसी संदर्भ में गुण को 'मूल स्थान' कहा है। पांच इन्द्रियों के विषय 'गुण' है।[1] इष्ट विषय के प्रति राग और अनिष्ट विषय के प्रति द्वेष की भावना जाग्रत होती है। राग-द्वेष की जागृति से कषाय की वृद्धि होती है। और बढ़े हुए कषाय ही जन्म-मरण के मूल को सींचते हैं। जैसा कहा है—

चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचति मूलाइं पुणब्भवस्स[2]

—ये चारों कषाय पुनर्भव जन्म-मरण की जड़ को सींचते हैं।

टीकाकार ने 'मूल' शब्द से कई अभिप्राय स्पष्ट किये हैं[3]—मूल—चार गतिरूप संसार। आठ प्रकार के कर्म तथा मोहनीय कर्म।

इन सबका सार यही है कि शब्द आदि विषयों में आसक्त होना ही संसार की वृद्धि का/कर्म-बन्धन का कारण है।

विषयासक्त पुरुष की मनोवृत्ति ममत्व-प्रधान रहती है। उसी का यहाँ निदर्शन कराया गया है। वह माता-पिता आदि सभी सम्बन्धियो व अपनी सम्पत्ति के साथ ममत्व का दृढ बंधन बांध लेता है। ममत्व से प्रमाद बढ़ता है। ममत्व और प्रमाद—ये दो भूत उसके सिर पर सवार हो जाते हैं, तब वह अपनी उद्दाम इच्छाओ की पूर्ति के लिए रात-दिन प्रयत्न करता है, हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है, जोड़-तोड़ करता है। चोर, हत्यारा और दुस्साहसी बन जाता है। उसकी वृत्ति संरक्षक नहीं, आक्रामक बन जाती है।

यह सब अनियंत्रित गुणार्थिता—विषयेच्छा का दुष्परिणाम है।

अशरणता-परिबोध

६४. अप्पं च खलु आउं इहमेगेसिं माणवाणं। तं जहा—सोतपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं घाणपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं।

अभिकंतं च खलु वयं संपेहाए ततो से एगया मूढभावं जणयंति।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिवदंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवदेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

से ण हासाए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए।

६४. इस संसार में कुछ एक मनुष्यों का आयुष्य अल्प होता है। जैसे—श्रोत्र-प्रज्ञान के परिहीन (सर्वथा दुर्बल) हो जाने पर, इसी प्रकार चक्षु-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, घ्राण-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, रस-प्रज्ञान के परिहीन होने पर, स्पर्श-प्रज्ञान के परिहीन होने पर (वह अल्प आयु में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है)।

---

१. आचा० शी० टीका पत्रांक ८६ २. दशवैकालिक ८।४०
३. आचा० शी० टीका पत्रांक ६०।१

वय—अवस्था/यौवन को तेजी से जाते हुए देखकर वह चिन्तित हो जाता है और फिर वह एकदा (बुढ़ापा आने पर) मूढ़भाव को प्राप्त हो जाता है।

वह जिनके साथ रहता है, वे स्वजन (पत्नी-पुत्र आदि) कभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं, उसे कटु व अपमानजनक वचन बोलते हैं। बाद में वह भी उन स्वजनों की निंदा करने लगता है।

हे पुरुष! वे स्वजन तेरी रक्षा करने में या तुझे शरण देने में समर्थ नहीं है। तू भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं है।

वह वृद्ध/जराजीर्ण पुरुष, न हंसी-विनोद के योग्य रहता है, न खेलने के, न रति-सेवन के और न शृंगार/सज्जा के योग्य रहता है।

विवेचन—इस सूत्र में मनुष्य शरीर की क्षणभंगुरता तथा अशरणता का रोमांचक दिग्दर्शन है।

सोतपण्णाण—का अर्थ है—सुनकर ज्ञान करने वाली इन्द्रिय अथवा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान, इसी प्रकार चक्षु प्रज्ञान आदि का अर्थ है—देखकर, सूंघकर, चखकर, छूकर ज्ञान करने वाली इन्द्रियाँ या इन इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान।

आगमो के अनुसार मनुष्य का जघन्यतम आयु एक क्षुल्लक भव (अन्तर्मुहूर्त मात्र) तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम प्रमाण होता है। इसमें संयम-साधना का समय अन्तर्मुहूर्त से लेकर देशोनकोटिपूर्व तक का हो सकता है। साधना की दृष्टि से समय बहुत अल्प—कम ही रहता है। अतः यहाँ आयुष्य को अल्प बताया है।[1]

सामान्य रूप में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, यह दश दशाओं[2] में विभक्त है—[1]बाला, [2]क्रीडा, [3]मंदा, [4]बला, [5]प्रज्ञा, [6]हायनी, [7]प्रपंचा, [8]प्रभारा, [9]मुम्मुखी, और [10]शायनी।

साधारण दशा में चालीस वर्ष (चौथी दशा) तक मनुष्य शरीर की आभा, कान्ति, बल आदि पूर्ण विकसित एवं सक्षम रहते हैं। उसके बाद क्रमश: क्षीण होने लगते हैं। जब इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने लगती है, तो मन में सहज ही चिंता, भय और शोक बढ़ने लगता है। इन्द्रिय-बल की हानि से वह शारीरिक दृष्टि से अक्षम होने लगता है, उसका मनोबल भी कमजोर पड़ने लगता है। इसी के साथ बुढ़ापे में इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। इन्द्रिय-शक्ति की हानि तथा विषयासक्ति की वृद्धि के कारण उसमें एक विचित्र प्रकार की मूढ़ता-व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है।

ऐसा मनुष्य परिवार के लिए समस्या बन जाता है। परस्पर में कलह व तिरस्कार की भावना बढ़ती है। वे पारिवारिक स्वजन चाहे कितने ही योग्य व स्नेह करने वाले हों, तब भी उस वृद्ध मनुष्य को, जरा, व्याधि और मृत्यु से कोई बचा नही सकता। यही जीवन की अशरणता है, जिस पर मनुष्य को सतत चिन्तन/मनन करते रहना है तथा ऐसी दशा में जो शरणदाता बन सके उस धर्म तथा संयम की शरण लेना चाहिए।

---

१ आचा० टीका पत्रांक ६२

२ स्थानांग सूत्र १०।सूत्र ७७२ (मुनि श्री कन्हैयालालजी सपादित)

'त्राण' का अर्थ रक्षा करने वाला है, तथा 'शरण' का अर्थ आश्रयदाता है। 'रक्षा' रोग आदि से प्रतीकारात्मक है, 'शरण' आश्रय एवं संपोषण का सूचक है। आगमों में 'ताणं-सरणं' शब्द प्रायः साथ-साथ ही आते हैं।

<u>प्रमाद-परिवर्जन</u>

६४. इच्चेवं समुट्ठिते अहोविहाराए। अंतरं च खलु इमं संपेहाए धीरे मुहुत्तमवि णो पमादए। वओ अच्चेति जोव्वणं च।[1]

६४. इस प्रकार चिन्तन करता हुआ मनुष्य संयम-साधना (अहोविहार) के लिए प्रस्तुत (उद्यत) हो जाये।

इस जीवन को एक स्वर्णिम अवसर समझकर धीर पुरुष मुहूर्त भर भी प्रमाद न करे—एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दे।

अवस्थाएँ (बाल्यकाल आदि) बीत रही हैं। यौवन चला जा रहा है।

विवेचन—इस सूत्र में 'संयम' के अर्थ में 'अहोविहार' शब्द का प्रयोग हुआ है। मनुष्य सामान्यतः विषय एवं परिग्रह के प्रति अनुराग रखता है। वह सोचता है कि इनके बिना जीवन यात्रा चल नहीं सकती। जब संयमी, अपरिग्रही अनगार का जीवन उसके सामने आता है, तब उसकी इस धारणा पर चोट पड़ती है। वह आश्चर्यपूर्वक देखता है कि यह विषयों का त्याग कर अपरिग्रही बनकर भी शान्तिपूर्वक जीवन यापन करता है। सामान्य मनुष्य की दृष्टि में संयम—आश्चर्यपूर्ण जीवन यात्रा होने से इसे 'अहोविहार' कहा है।[2]

६६. जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता, अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं पोसेंति, सो वा ते णियगे पच्छा पोसेज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६६. जो इस जीवन (विषय, कषाय आदि) के प्रति प्रमत्त है/आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन, चोरी, ग्रामघात, उपद्रव (जीव-वध) और उत्त्रास आदि प्रवृत्तियों में लगा रहता है। (जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह) 'अकृत काम मैं करूंगा' इस प्रकार मनोरथ करता रहता है।

जिन स्वजन आदि के साथ वह रहता है, वे पहले कभी (शैशव एवं रुग्ण अवस्था में) उसका पोषण करते हैं। वह भी बाद में उन स्वजनों का पोषण करता है। इतना स्नेह-सम्बन्ध होने पर भी वे (स्वजन) तुम्हारे त्राण या शरण के लिए समर्थ नहीं हैं। तुम भी उनको त्राण व शरण देने में समर्थ नहीं हो।

---

१. 'च' ग्रहणा जहा जोव्वणं तहा बालातिवया वि'—चूर्णि। 'च' शब्द से यौवन के समान बालवय का अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२ आचा० टीका पत्रांक ९७

६७. उवादीतसेसेण[1] वा संणिहितसण्णिचयो[2] कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए। ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति।

जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियगा पुव्विं परिहरंति, सो वा ते णियए पच्छा परिहरेज्जा।

णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

६७. (मनुष्य) उपभोग में आने के बाद बचे हुए धन से, तथा जो स्वर्ण एवं भोगोपभोग की सामग्री अर्जित-संचित करके रखी है उसको सुरक्षित रखता है। उसे वह कुछ गृहस्थों के भोग/भोजन के लिए उपयोग में लेता है।

(प्रभूत भोगोपभोग के कारण फिर) कभी उसके शरीर में रोग की पीडा उत्पन्न होने लगती है।

जिन स्वजन-स्नेहियों के साथ वह रहता आया है, वे ही उसे (रोग आदि के कारण घृणा करके) पहले छोड़ देते हैं। बाद में वह भी अपने स्वजन-स्नेहियों को छोड़ देता है।

हे पुरुष! न तो वे तेरी रक्षा करने और तुझे शरण देने में समर्थ है, और न तू ही उनकी रक्षा व शरण के लिए समर्थ है।

आत्म-हित की साधना

६८. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं। अणभिक्कंतं च खलु वयं संपेहाए खणं जाणाहि पंडिते!

जाव सोतपण्णाणा अपरिहीणा जाव णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥पढमो उद्देसओ सम्मत्तो॥

६८. प्रत्येक प्राणी का सुख और दुख—अपना-अपना है, यह जानकर (आत्म द्रष्टा बने)।

जो अवस्था (यौवन एवं शक्ति) अभी बीती नहीं है, उसे देखकर, हे पंडित! क्षण (समय) को/अवसर को जान।

जब तक श्रोत्र-प्रज्ञान परिपूर्ण है, इसीप्रकार नेत्र-प्रज्ञान, घ्राण-प्रज्ञान, रसना-प्रज्ञान, और स्पर्श-प्रज्ञान परिपूर्ण है, तब तक—इन नानारूप प्रज्ञानों के परिपूर्ण रहते हुए आत्म-हित के लिए सम्यक् प्रकार से प्रयत्नशील बने।

जब तक शरीर स्वस्थ एवं इन्द्रिय-बल परिपूर्ण है, तब तक साधक आत्मार्थ अथवा मोक्षार्थ का सम्यक् अनुशीलन करता रहे।

'क्षण' शब्द सामान्यतः सबसे अल्प, लोचन-निमेषमात्र काल के अर्थ में आता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में 'क्षण' जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अवसर है। आचारांग के अतिरिक्त सूत्र-कृतांग आदि में भी 'क्षण' का इसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। जैसे—

इणमेव खणं वियाणिया—सूत्रकृ० १।२।३।१९

इसी क्षण को (सबसे महत्त्वपूर्ण) समझो।

टीकाकार ने 'क्षण' की अनेक दृष्टियों से व्याख्या की है। जैसे कालरूप क्षण—समय। भावरूप क्षण—अवसर। अन्य नय से भी क्षण के चार अर्थ किये हैं, जैसे—(१) द्रव्य क्षण—मनुष्य जन्म। (२) क्षेत्र क्षण—आर्य क्षेत्र। (३) काल क्षण—धर्माचरण का समय। (४) भाव क्षण—उपशम, क्षयोपशम आदि उत्तम भावों की प्राप्ति। इस उत्तम अवसर का लाभ उठाने के लिए साधक को तत्पर रहना चाहिए।[1]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

अरति एवं लोभ का त्याग

६९. अरति आउट्टे से मेधावी खणंसि मुक्के।[2]

७०. अणाणाए पुट्ठा वि एगे णियट्टंति मंदा मोहेण पाउडा।

'अपरिग्गहा भविस्सामो' समुट्ठाए लद्धे कामे अभिगाहंति। अणाणाए मुणिणो पडिलेहेंति। एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा णो हव्वाए णो पाराए।

६९. जो अरति से निवृत्त होता है, वह बुद्धिमान है। वह बुद्धिमान् विषय-तृष्णा से क्षणभर में ही मुक्त हो जाता है।

७०. अनाज्ञा में—(वीतराग विहित-विधि के विपरीत) आचरण करने वाले कोई-कोई संयम जीवन में परीषह आने पर वापस गृहवासी भी बन जाते हैं। वे मंद बुद्धि—अज्ञानी मोह से आवृत रहते हैं।

कुछ व्यक्ति—'हम अपरिग्रही होंगे—ऐसा संकल्प करके संयम धारण करते हैं, किन्तु जब काम-सेवन (इन्द्रिय विषयों के सेवन) का प्रसंग उपस्थित होता है, तो उनमें फंस जाते हैं। वे मुनि वीतराग-आज्ञा से बाहर (विषयों की ओर) देखने/ ताकने लगते हैं।

---

1. आचा० शीलांक टीका पत्रांक ९९।१००
2. 'मुत्ते'—पाठान्तर है।

जो प्रतिलेखना कर, विषय-कषायों आदि के परिणाम का विचार कर उनकी (विषयों की) आकांक्षा नहीं करता, वह अनगार कहलाता है।

विवेचन—जैसे आहार-परित्याग ज्वर की औषधि है, वैसे ही लोभ-परित्याग (संतोष) तृष्णा की औषधि है। पहले पद में कहा है—जो विषयों के दलदल से मुक्त हो गया है वह पारगामी है। चूर्णिकार ने यहाँ प्रश्न उठाया है—ते पुण कह पारगामिणो—वे पार कैसे पहुँचते है? भण्णति-लोभं अलोभेण दुगु'छमाणा—लोभ को अलोभ से जीतता हुआ पार पहुँचता है।

'विणा वि लोभं' के स्थान पर शीलाक टीका में विणइत्तु लोभं पाठ भी है। चूर्णिकार ने विणा वि लोभं पाठ दिया है। दोनों पाठों से यह भाव ध्वनित होता है कि जो लोभ-सहित, दीक्षा लेते हैं वे भी आगे चलकर लोभ का त्यागकर कर्मावरण से मुक्त हो जाते हैं। और जो भरत चक्रवर्ती की तरह लोभ-रहित स्थिति में दीक्षा लेते हैं वे भी कर्म-रहित होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्म का क्षय कर ज्ञाता-द्रष्टा बन जाते हैं।

प्रतिलेखना का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से देखना। साधक जब अपने आत्म-हित का विचार करता है, तब विषयों के कटु-परिणाम उसके सामने आ जाते हैं। तब वह उनसे विरक्त हो जाता है। यह चिन्तन/मननपूर्वक जगा वैराग्य स्थायी होता है। सूत्र ७० में बताये गये कुछ साधकों की भाँति वह पुनः विषयों की ओर नहीं लौटता। वास्तव में उसे ही 'अनगार' कहा जाता है।

अर्थ-लोभी की वृत्ति

७२. अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो।

७३. से आतबले, से णातबले, से मित्तबले, से पेच्चबले, से देवबले, से रायबले, से चोरबले, से अतिथिबले, से किवणबले, से समणबले, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमादाणं सपेहाए भया कज्जति, पावमोक्खो त्ति मण्णमाणे अदुवा आसंसाए।

७२. (जो विषयों से निवृत्त नहीं होता) वह रात-दिन परितप्त रहता है। काल या अकाल में (धन आदि के लिए) सतत प्रयत्न करता रहता है। विषयों को प्राप्त करने का इच्छुक होकर वह धन का लोभी बनता है। चोर व लुटेरा बन जाता है। उसका चित्त व्याकुल व चंचल बना रहता है। और वह पुनः-पुनः शस्त्र-प्रयोग (हिंसा व संहार) करता रहता है।

७३. वह आत्म-बल (शरीर-बल), ज्ञाति-बल, मित्र-बल, प्रेत्य-बल, देव-बल, राज-बल, चोर-बल, अतिथि-बल, कृपण-बल और श्रमण-बल का संग्रह करने के लिए अनेक प्रकार के कार्यों (उपक्रमों) द्वारा दण्ड का प्रयोग करता है।

कोई व्यक्ति किसी कामना से (अथवा किसी अपेक्षा से) एवं कोई भय के

१. इससे पूर्व 'इच्चत्थं गढिए लोए वसति पमत्ते' इतना अधिक पाठ चूर्णि में है।
—आचा० (मुनि जम्बूविजयजी) पृष्ठ २०

कारण हिंसा आदि करता है। कोई पाप से मुक्ति पाने की भावना से (यज्ञ-बलि आदि द्वारा) हिंसा करता है। कोई किसी आशा—अप्राप्त को प्राप्त करने की लालसा से हिंसा-प्रयोग करता है।

विवेचन—सूत्र ७२, ७३ में हिंसा करने वाले मनुष्य की अन्तरंग वृत्तियों व विविध प्रयोजनों का सूक्ष्म विश्लेषण है।

अर्थ-लोलुप मनुष्य, रात दिन भीतर-ही-भीतर उत्तप्त रहता है, तृष्णा का दावानल उसे सदा सतप्त एव प्रज्वलित रखता है। वह अर्थलोभी होकर आलुम्पक—चोर, हत्यारा तथा सहसाकारी—दुस्साहसी/विना विचारे कार्य करने वाला/अकस्मात् आक्रमण करने वाला—डाकू आदि वन जाता है।

मनुष्य को चोर/डाकू/हत्यारा बनने का मूल कारण—तृष्णा की अधिकता ही है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी यही बात वार-वार दुहराई गई है—

अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययइ अदत्तं।—३२।२६

सूत्र ७३ में हिंसा के अन्य प्रयोजनों की चर्चा है। चूर्णिकार ने विस्तार के साथ बताया है—कि वह निम्न प्रकार के बल (शक्ति) प्राप्त करने के लिए विविध हिंसाएं करता है। जैसे-

१. शरीर-बल—शरीर की शक्ति बढ़ाने के लिए—मद्य-मांस आदि का सेवन-करता है।

२. ज्ञाति-बल—स्वयं अजेय होने के लिए स्वजन सम्बन्धियो को शक्तिमान बनाता है। स्वजन-वर्ग की शक्ति को भी अपनी शक्ति मानता है।[1]

३. मित्र-बल—धन-प्राप्ति तथा प्रतिष्ठा-सम्मान आदि मानसिक-तुष्टि के लिए मित्र—शक्ति को बढ़ाता है।

४. प्रेत्य-बल, ५. देव-बल—परलोक में सुख पाने के लिए, तथा देवता आदि को प्रसन्न कर उनकी शक्ति पाने के लिए यज्ञ, पशु-बलि, पिंडदान आदि करता है।[2]

६. राज-बल—राजा का सम्मान एवं सहारा पाने के लिए कूटनीतिक चालें चलता है, शत्रु आदि को परास्त करने में सहायक बनता है।

७ चोर-बल—धन प्राप्ति तथा आतंक जमाने के लिए चोर आदि के साथ गठबंधन करता है।

८. अतिथि-बल, ९. कृपण-बल, १०. श्रमण-बल—अतिथि—मेहमान, भिक्षुक आदि, कृपण—(अनाथ, अपंग, याचक) और श्रमण—आजीवक, शाक्य तथा निर्ग्रन्थ—इनको यश, कीर्ति और धर्म-पुण्य की प्राप्ति के लिए दान देता है।

'सपेहाए'—के स्थान पर तीन प्रयोग मिलते है[3], सयं पेहाए—स्वयं विचार करके,

---

१. आचाराग चूर्णि इसी सूत्र पर
२. आचा० शीलाक टीका पत्रांक १०४
३ आचाराग चूर्णि "सपेहया पर्यालोचनया एव सप्रेक्ष्य वा।"

सपेहाए—विविध प्रकार से चिन्तन करके, सपेहाए—किसी विचार के कारण/विचारपूर्वक। तीनों का अभिप्राय एक ही है। 'दंडसमादाण' का अर्थ है हिंसा में प्रवृत्त होना।

७४. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभेज्जा, णेव अण्णं एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभावेज्जा, णेवऽण्णे एतेहिं कज्जेहिं दंडं समारंभंते समणुजाणेज्जा।

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते जहेत्थ कुसले णोवलिंपेज्जासि त्ति बेमि।

॥ बिइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

७४. यह जानकर मेधावी पुरुष पहले बताये गये प्रयोजनों के लिए स्वयं हिंसा न करे, दूसरों से हिंसा न करवाए तथा हिंसा करने वाले का अनुमोदन न करे।

यह मार्ग (लोक-विजय का/संसार से पार पहुँचने का) आर्य पुरुषों ने—तीर्थंकरों ने बताया है। कुशल पुरुष इन विषयों में लिप्त न हो। —ऐसा मैं कहता हूँ।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

गोत्रवाद-निरसन

७५. से असइं उच्चागोए, असइं णीयागोए।[1] णो हीणे, णो अतिरित्ते। णो पीहए।

इति संखाए के गोतावादी? के माणावादी? कंसि वा एगे गिज्झे?

तम्हा पंडिते णो हरिसे, णो कुज्झे।

७५. यह पुरुष (आत्मा) अनेक बार उच्चगोत्र और अनेकबार नीच गोत्र को प्राप्त हो चुका है। इसलिए यहाँ न तो कोई हीन/नीच है और न कोई अतिरिक्त/विशेष/उच्च है। यह जानकर उच्चगोत्र की स्पृहा न करे।

यह (उक्त तथ्य को) जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा? कौन मानवादी होगा? और कौन किस एक गोत्र/स्थान में आसक्त होगा?

इसलिए विवेकशील मनुष्य उच्चगोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हो और नीच गोत्र प्राप्त होने पर कुपित/दुखी न हो।

विवेचन—इस सूत्र में आत्मा की विविध योनियों में भ्रमणशीलता का सूचन करते हुए उस योनि/जाति व गोत्र आदि के प्रति अहंकार व हीनता के भावों से स्वयं को त्रस्त न करने की सूचना दी है। अनादिकाल से जो आत्मा कर्म के अनुसार भव-भ्रमण करती है, उसके लिए विश्व में कहीं ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ उसने अनेक बार जन्म धारण न किया हो। जैसे कहा है—

---

1. नागार्जुनीय वाचना का पाठ इस प्रकार है—'एगमेगे खलु जीवे अतीतद्धाए असइं उच्चागोए असइं णीयागोए कंडगट्ठयाए णो हीणे णो अतिरित्ते।' —चूर्णि एवं टीका मे भी यह पाठ उद्धृत है।

न सा जाई न सा जोणी न तं ठाणं न तं कुलं।
जत्थ न जाओ मओ यावि एस जीवो अणंतसो ॥

ऐसी कोई जाति, योनि, स्थान और कुल नहीं है, जहाँ पर यह जीव अनन्त बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। भगवती सूत्र में कहा है—नत्थि केइ परमाणुपोग्गल मेत्ते वि पएसे, जत्थ णं अयं जीवे न जाए वा न मए वावि'—इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है, जहाँ यह जीव न जन्मा हो, न मरा हो।'

जब ऐसी स्थिति है, तो फिर किस स्थान का वह अहंकार करे। किस स्थान के लिए दीनता अनुभव करे! क्योंकि वह स्वयं उन स्थानों पर अनेक बार जा चुका है।—इस विचार से मन में समभाव की जागृति करे। मन को न तो अहंकार से दृप्त होने दे, न दीनता का शिकार होने दे! बल्कि गोत्रवाद को, ऊंच-नीच की धारणा को मन से निकालकर आत्मवाद में रमण करे।

यहाँ उच्चगोत्र-नीचगोत्र शब्द बहु चर्चित शब्द है। कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से 'गोत्र' शब्द का अर्थ है "जिस कर्म के उदय से शरीरधारी आत्मा को जिन शब्दों के द्वारा पहचाना जाता है, वह 'गोत्र' है।" उच्च शब्द के द्वारा पहचानना उच्च गोत्र है, नीच शब्द के द्वारा पहचाना जाना नीच गोत्र है।[1] इस विषय पर जैन ग्रन्थों में अत्यधिक विस्तार से चर्चा की गई है। उसका सार यह है कि जिस कुल की वाणी, विचार संस्कार और व्यवहार प्रशस्त हो, वह उच्च गोत्र है और इसके विपरीत नीच गोत्र।

गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोडना भ्रान्ति है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार देव गति में उच्चगोत्र का उदय होता है और तिर्यंच मात्र में नीचगोत्र का उदय, किन्तु देवयोनि में भी किल्विषिक देव उच्च देवों की दृष्टि में नीच व अस्पृश्यवत् होते हैं। इसके विपरीत अनेक पशु, जैसे—गाय, घोडा, हाथी तथा कई नस्ल के कुत्ते बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे अस्पृश्य नहीं माने जाते। उच्चगोत्र में नीच जाति हो सकती है तो नीचगोत्र में उच्च जाति क्यों नहीं हो सकती? अतः गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नहीं जोड़ना चाहिए।

भगवान महावीर ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि जब आत्मा अनेक बार उच्च-नीच गोत्र का स्पर्श कर चुका है; कर रहा है तब फिर कौन ऊंचा है? कौन नीचा? ऊंच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार है, और अहंकार—'मद' है। 'मद' नीचगोत्र बन्धन का मुख्य कारण है? अतः इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उसमें तटस्थ रहता है, समत्वशील है, वही पंडित है।

प्रमाद एवं परिग्रह-जन्य दोष

७८. भूतेहिं जाण पडिलेह सातं। समिते एयाणुपस्सी। तं जहा—
अंधत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटत्तं खुज्जत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं। सह पमा-देणं अणेगरूवाओ जोणीओ संधेति [illegible]

काल का अनागमन नहीं है, मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है।

सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। सभी सुख का स्वाद चाहते हैं। दुःख से घबराते हैं। उनको वध—(मृत्यु) अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं। सब को जीवन प्रिय है।

विवेचन—सूत्र ७६ में समत्व-दर्शन की प्रेरणा देते हुए बताया है कि संसार में जितने भी दुःख हैं, वे सब स्वयं के प्रमाद के कारण ही होते हैं। प्रमादी—विषय आदि में आसक्त होकर परिग्रह का संग्रह करता है, उनमें ममत्व बन्धन जोड़ता है। उनमें रक्त अर्थात् अत्यन्त गृद्ध हो जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रथम तो तप, (अनशनादि) दम (इन्द्रिय-निग्रह, प्रशम भाव) नियम (अहिंसादि व्रत) आदि का आचरण नहीं कर सकता, अगर लोक-प्रदर्शन के लिए करता भी है तो वह सिर्फ ऊपरी है, उसके तप-दम नियम निष्फल—फल रहित होते हैं।[1]

सूत्र ७८ में ध्रुव शब्द—मोक्ष का वाचक है।

आगमों में मोक्ष के लिए 'ध्रुव स्थान' का प्रयोग कई जगह हुआ है। जैसे—

अत्थि एगं धुवं ठाणं—(उत्त० २३ गा० ८१)

ध्रुव शब्द, मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि का भी बोधक है।[2] कहीं-कहीं 'धुतचारी' पाठान्तर भी मिलता है। 'धुत' का अर्थ भी चारित्र व निर्मल आत्मा है।

'चरे संकमणे' के स्थान पर शीलाकटीका में 'चरेऽसंकमणे' पाठ भी है। 'संकमणे' का अर्थ-संक्रमण—मोक्षपथ का सेतु—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप किया है। उस सेतु पर चलने का आदेश है। 'चरेऽसंकमणे' में शंका रहित होकर परीषहो को जीतता हुआ गतिमान् रहने का भाव है।[3]

'पिआउया' के स्थान पर चूर्णि में पियायगा व टीका में 'पियायया' पाठान्तर भी है।[4] जिनका अर्थ है प्रिय आयतः-आत्मा, अर्थात् जिन्हे अपना आत्मा प्रिय है, वे जगत के सभी प्राणी।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है प्रस्तुत परिग्रह के प्रसंग में 'सब को सुख प्रिय है, दुख अप्रिय है' यह कहने का क्या प्रयोजन है? यह तो अहिंसा का प्रतिपादन है। चिन्तन करने पर इसका समाधान यों प्रतीत होता है।—

'परिग्रह का अर्थी स्वयं के सुख के लिए दूसरो के सुख-दुःख की परवाह नही करता, वह शोषक तथा उत्पीड़क भी बन जाता है। इसलिए परिग्रह के साथ हिंसा का अनुबंध है। यहाँ पर सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी यह बोध होना आवश्यक है कि जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी। दूसरों के सुख को लूटकर स्वयं का सुख न चाहे, परिग्रह न करे इसी भावना को यहाँ उक्त पद स्पष्ट करते हैं।

परिग्रह से दुःख वृद्धि

७९. तं परिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजियाणं संसिंचियाणं तिविधेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुगा वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

---

१ आचारांग टीका पत्र–१०१ २. वही टीका पत्र ११० ३. वही पत्र ११०

४. पियो अप्पा जेसिं ते पियायगा—चूर्णि (आचा॰ जम्बू॰ टिप्पण पृष्ठ २२)

वह (मूढ) आदानीय—सत्यमार्ग (संयम पथ) को प्राप्त करके भी उस स्थान में स्थित नहीं हो पाता। अपनी मूढता के कारण वह असत्य मार्ग को पकड़ कर उसी में ठहर जाता है।

विवेचन—इस सूत्र में परिग्रह-मूढ मनुष्य की दशा का चित्रण है। वह सुख की इच्छा से धन का संग्रह करता है किन्तु धन से कभी सुख नहीं मिलता। अन्त में उसके हाथ दुःख, शोक, चिन्ता और क्लेश ही लगता है।

परिग्रह मूढ अनोघंतर है—संसार त्याग कर दीक्षा नहीं ले सकता। अगर परिग्रहासक्ति कुछ छूटने पर दीक्षा ले, भी ले तो जब तक उस संसार से पूर्णतः मुक्त नहीं होता, वह केवल ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, और न संसार का पार—निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

चूर्णिकार ने 'आदानीय' का अर्थ- पंचविहो आयारो—पांच प्रकार का आचार अर्थ किया है कि वह परिग्रही मनुष्य उस आचार में स्थित नहीं हो सकता।[1]

चूर्णिकार ने इस गाथा (२) को एक अन्य प्रकार से भी उद्धृत किया है, उससे एक अन्य अर्थ ध्वनित होता है, अतः यहाँ वह गाथा भी उपयोगी होगी—

आदाणियम्मि आणाए तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ।
वितहं पप्पऽखेतण्णे तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ॥

—आदानीय अर्थात् ग्रहण करने योग्य संयम मार्ग में जो प्रवृत्त है, वह उस स्थान—(मूल ठाणे—संसार) में नहीं ठहरता। जो अखेतण्णे—(अखेदज्ञ) अज्ञानी है, मूढ है, वह असत्य-मार्ग का अवलम्बन कर उस स्थान (संसार) में ठहरता है।[2]

८०. उद्देसो पासगस्स णत्थि।
बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

८०. जो द्रष्टा है, (सत्यदर्शी है) उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।

अज्ञानी पुरुष, जो स्नेह के बंधन में बंधा है, काम-सेवन में अनुरक्त है, वह कभी दुःख का शमन नहीं कर पाता। वह दुःखी होकर दुःखों के आवर्त में—चक्र में बार-बार भटकता रहता है।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—यहाँ पश्यक—शब्द द्रष्टा या विवेकी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। टीकाकार ने वैकल्पिक अर्थ यों किया है—जो पश्यक स्वयं कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक रखता है, उसे अन्य के

---

१. आचा० (जम्बूविजय जी) टिप्पण पृष्ठ २३
२. अखेतण्णो अपंडितो से तेहिं चेव संसारट्ठाणे चिट्ठति—चूर्णि (वही पृष्ठ २३)

उपदेश की आवश्यकता नहीं है। अथवा पासग—सर्वज्ञ हैं, उन्हें किसी भी उद्देस—नारक आदि तथा उच्च-नीच गोत्र आदि के व्यपदेश—संज्ञा की अपेक्षा नहीं रहती।

णिहे—के भी दो अर्थ है—(१) स्नेही अथवा रागी,, (२) णिह (निहत) कषाय, कर्म परीषह आदि से बंधा या त्रस्त हुआ अज्ञानी जीव।[1]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

काम-भोग जन्य पीड़ा

८१. ततो से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पज्जंति। जेहिं वा सद्धिं संवसति ते व णं एगया णियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते णियए पच्छा परिवएज्जा। णालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमं पि तेसिं णालं ताणाए वा सरणाए वा।

८२. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं।

भोगामेव अणुसोयंति, इहमेगेसिं माणवाणं तिविहेण जा वि से तत्थ मत्ता भवति अप्पा वा बहुया वा। से तत्थ गढिते चिट्ठति भोयणाए।

ततो से एगया विप्परिसिट्ठं संभूतं महोवकरणं भवति तं पि से एगया दायादा विभयंति, अदत्तहारो[2] वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारदाहेण वा से डज्झति।

इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं[3] बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति।

८१. तब कभी एक समय ऐसा आता है, जब उस अर्थ-संग्रही मनुष्य के शरीर में (भोग-काल में) अनेक प्रकार के रोग-उत्पात (पीड़ाएँ) उत्पन्न हो जाते हैं।

वह जिनके साथ रहता है, वे ही स्व-जन एकदा (रोगग्रस्त होने पर) उसका तिरस्कार व निंदा करने लगते हैं। बाद में वह भी उनका तिरस्कार व निंदा करने लगता है।

हे पुरुष! वे स्वजनादि तुझे त्राण देने में, शरण देने में समर्थ नहीं है। तू भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं है।

८२. दुःख और सुख—प्रत्येक आत्मा का अपना-अपना है, यह जानकर (इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करे)।

---

१. आचा० टीका पत्रांक ११३/१

२. अदत्ताहारो—पाठान्तर हैं।

३ कूराणि कम्माणि

कुछ मनुष्य, जो इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं कर पाते, वे बार-बार भोग के विषय में ही (ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की तरह) सोचते रहते हैं।

यहाँ पर कुछ मनुष्यों को (जो विषयों की चिन्ता करते हैं) (तीन प्रकार से)—अपने, दूसरों के अथवा दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से अल्प या बहुत अर्थ-मात्रा (धन-संपदा) हो जाती है। वह फिर उस अर्थ-मात्रा में आसक्त होता है। भोग के लिए उसकी रक्षा करता है। भोग के बाद बची हुई विपुल संपत्ति के कारण वह महान वैभव वाला बन जाता है। फिर जीवन में कभी ऐसा समय आता है, जब दायाद हिस्सा बँटाते हैं, चोर उसे चुरा लेते हैं, राजा उसे छीन लेते हैं, वह अन्य प्रकार (दुर्व्यसन आदि या आतंक-प्रयोग) से नष्ट-विनष्ट हो जाती है। गृह-दाह आदि से जलकर भस्म हो जाती है।

अज्ञानी मनुष्य इस प्रकार दूसरों के लिए अनेक क्रूरकर्म करता हुआ (दुःख के हेतु का निर्माण करता है) फिर दुःखोदय होने पर वह मूढ बन कर विपर्यास भाव को प्राप्त होता है।

आसक्ति ही शल्य है

८३. आसं च छंदं च विगिंच धीरे।
तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु।
जेण सिया तेण णो सिया।
इणमेव णावबुज्झंति जे जणा मोहपाउडा।

८४. थीभि लोए पव्वहिते।
ते भो ! वदंति एयाइं आयतणाइं।
से दुक्खाए मोहाए माराए णरगाए णरगतिरिक्खाए।
सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।

८३. हे धीर पुरुष ! तू आशा और स्वच्छन्दता (स्वेच्छाचारिता)—मनमानी करने का त्याग करदे। उस भोगेच्छा रूप शल्य का सृजन तूने स्वयं ही किया है।

जिस भोग सामग्री से तुझे सुख होता है उससे सुख नही भी होता है। (भोग के बाद दुख है)।

जो मनुष्य मोह की सघनता से आवृत हैं, ढंके हैं, वे इस तथ्य को (उक्त आशय को—कि पौद्गलिक साधनो से कभी सुख मिलता है, कभी नहीं, वे क्षण-भंगुर है, तथा वे ही शल्य—कांटा रूप है) नही जानते।

८४. यह संसार स्त्रियो के द्वारा पराजित है (अथवा प्रव्यथित—पीड़ित है) हे पुरुष ! वे (स्त्रियो से पराजित जन) कहते हैं—ये स्त्रियाँ आयतन हैं (भोग की सामग्री है)।

(किन्तु उसका) यह वचन/धारणा, दुःख के लिए एवं मोह, मृत्यु, नरक तथा नरक-तिर्यंच गति के लिए होता है।

सतत मूढ़ रहने वाला मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता।

विवेचन—उक्त दोनों सूत्रों में क्रमश: मनुष्य की भोगेच्छा एवं कामेच्छा के कटु-परिणाम का दिग्दर्शन है। भोगेच्छा को ही अन्तर हृदय में सदा खटकने वाला काँटा बताया गया है और उस काँटे को उत्पन्न करने वाला आत्मा स्वयं ही है। वही उसे निकालने वाला भी है। किन्तु मोह से आवृतबुद्धि मनुष्य इस सत्य-तथ्य को पहचान नहीं पाता, इसीलिए वह संसार में दुःख पाता है।

सूत्र ८४ में मनुष्य की कामेच्छा का दुर्बलतम पक्ष उघाड़कर बता दिया है कि यह समूचा संसार काम से पीड़ित है, पराजित है। स्त्री काम का रूप है। इसलिए कामी पुरुष स्त्रियों से पराजित होते हैं और वे स्त्रियों को भोग-सामग्री मानने की निकृष्ट-भावना से ग्रस्त हो जाते हैं।

'आयतन' शब्द यहाँ पर भोग-सामग्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

मूल आगमों तथा टीका ग्रन्थों में 'आयतन' शब्द प्रसंगानुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जैसे—

आयतन—गुणों का आश्रय।[1] भवन, गृह, स्थान, आश्रय।[2] देव, यक्ष आदि का स्थान, देव-कुल।[3] ज्ञान-दर्शन-चारित्रधारी साधु[4], धार्मिक व ज्ञानी जनों के मिलने का स्थान।[5] उप-भोगास्पद वस्तु।[6]

नरक-तिर्यंच-गति—से तात्पर्य है, नरक से निकलकर फिर तिर्यंच गति में जाना।[7]

स्त्री को आयतन—भोग-सामग्री मानकर, उसके भोग में लिप्त हो जाना—आत्मा के लिए कितना घातक/अहितकर है, इसे जताने के लिए ही ये सब विशेषण हैं—यह दुःख का कारण है, मोह, मृत्यु, नरक व नरक-तिर्यंच गति में भव-भ्रमण का कारण है।

विषय : महामोह

८५. उदाहु वीरे—अप्पमादो महामोहे, अलं कुसलस्स पमादेणं, संतिमरणं सपेहाए, भेउरधम्मं सपेहाए। णालं पास। अलं ते एतेहिं।[8] एतं पास मुणि! महब्भयं। णातिवातेज्ज कंचणं।

---

1. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार: सूत्र २१।
2. अभिधान राजेन्द्र भाग २
3. (क) प्रश्न० आश्रव द्वार। (ख) दशाश्रुतस्कंध ११०।
4. प्रवचनसारोद्धार द्वार १४८ गाथा ६४६। —आयतनं धार्मिकजनमीलनस्थानम्।
5. ओघनिर्युक्ति गाथा ७८२।
6. प्रस्तुत सूत्र।
7. नरगाए—नरकाय नरकगमनार्थं, पुनरपि नरगतिरिक्खा—ततोऽपि नरकादुद्धृत्य तिरश्च —आचा० शी० टीका
8. अलं तवेएहिं—पाठान्तर है।

८५. भगवान महावीर ने कहा है—महामोह (विषय/स्त्रियों) में अप्रमत्त रहे। अर्थात् विषयों के प्रति अनासक्त रहे।

बुद्धिमान् पुरुष को प्रमाद से बचना चाहिए। शान्ति[1] (मोक्ष) और मरण (संसार) को देखने/समझने वाला (प्रमाद न करे) यह शरीर भंगुरधर्मा—नाशमान है, यह देखने वाला (प्रमाद न करे)।

ये भोग (तेरी अतृप्ति की प्यास बुझाने में) समर्थ नहीं है। यह देख। तुझे इन भोगों से क्या प्रयोजन है ? हे मुनि ! यह देख, ये भोग महान भयरूप हैं।[2] भोगों के लिए किसी प्राणी की हिंसा न कर।

भिक्षाचरी में समभाव

८६. एस वीरे पसंसिते जे ण णिव्विज्जति आदाणाए।
ण मे देति ण कुप्पेज्जा, थोवं लद्धुं ण खिंसए।
पडिसेहितो परिणमेज्जा।[3]
एतं मोणं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

८६. वह वीर प्रशंसनीय होता है, जो संयम से उद्विग्न नहीं होता अर्थात् जो संयम में सतत लीन रहता है।

'यह मुझे भिक्षा नहीं देता' ऐसा सोचकर कुपित नहीं होना चाहिए। थोड़ी भिक्षा मिलने पर दाता की निंदा नहीं करना चाहिए। गृहस्वामी दाता द्वारा प्रतिबंध करने पर—निषेध करने पर शान्त भाव से वापस लौट जाये।

मुनि इस मौन (मुनिधर्म) का भलीभाँति पालन करे।

विवेचन—यहाँ भोग-निवृत्ति के प्रसंग में भिक्षा-विधि का वर्णन आया है। टीकाकार आचार्य की दृष्टि में इसकी संगति इस प्रकार है—मुनि संसार त्याग कर भिक्षावृत्ति से जीवन-यापन करता है। उसकी भिक्षा त्याग का साधन है, किन्तु यदि वही भिक्षा, आसक्ति, उद्वेग तथा क्रोध आदि आवेशों के साथ ग्रहण की जाये तो, भोग बन जाती है। श्रमण की भिक्षावृत्ति 'भोग' न बने इसलिए यहाँ भिक्षाचर्या में मन को शांत, प्रसन्न और संतुलित रखने का उपदेश किया गया है।

॥ चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. 'सन्तिमरण' का एक अर्थ यह भी है कि शान्ति-पूर्वक मृत्यु की प्रतीक्षा करता हुआ नाशमान शरीर का विचार करे।
२. कामभोगात्मक महद् भयं—टीका पत्रांक—११६।१।
३. यहाँ पाठान्तर है—'पडिलाभिते परिणमे'—चूर्णि। पडिलाभिओ परिणमेज्जा —शीलांक टीका।

पञ्चमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

शुद्ध आहार की एषणा

८७. जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्मसमारंभा कज्जंति। तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूताणं सुण्हाणं णातीणं धातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आदेसाए पुढो पहेणाए सामासाए पातरासाए संणिहिसंणिचयो कज्जति इहमेगेसिं माणवाणं भोयणाए।

८८. समुट्ठिते अणगारे आरिए[1] आरियपण्णे आरियदंसी अयं संधी ति अदक्खु।

से णाइए, णाइआवए, न समणुजाणए।

सव्वामगंधं परिण्णाय णिरामगंधे परिव्वए।

अदिस्समाणे कय-विक्कएसु। से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणए।

से भिक्खू कालण्णे बालण्णे मातण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे[1] भावण्णे परिग्गहं अममायमाणे कालेणुट्ठाई अपडिण्णे। दुहतो छित्ता णियाइ।

८७. असंयमी पुरुष अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा लोक के लिए (अपने एवं दूसरों के लिए) कर्म समारंभ (पचन-पाचन आदि क्रियाएं) करते हैं। जैसे—

अपने लिए, पुत्र, पुत्री, पुत्र-वधू, ज्ञातिजन, धाय, राजा, दास-दासी, कर्मचारी, कर्मचारिणी, पाहुने—मेहमान आदि के लिए तथा विविध लोगों को देने के लिए एवं सायंकालीन तथा प्रातःकालीन भोजन के लिए।

इस प्रकार वे कुछ मनुष्यों के भोजन के लिए सन्निधि (दूध-दही आदि पदार्थों का संग्रह) और सन्निचय (चीनी-घृत आदि पदार्थों का संग्रह) करते रहते हैं।

८८. संयम-साधना में तत्पर हुआ आर्य, आर्यप्रज्ञ और आर्यदर्शी अनगार प्रत्येक क्रिया उचित समय पर ही करता है। वह 'यह भिक्षा का समय—संधि (अवसर) है' यह देखकर (भिक्षा के लिए जाये)

वह सदोष आहार को स्वयं ग्रहण न करे, न दूसरों से ग्रहण करवाए तथा ग्रहण करने वाले का अनुमोदन नहीं करे।

वह (अनगार) सब प्रकार के आमगंध (आधाकर्मादि दोषयुक्त आहार) का परिवर्जन करता हुआ निर्दोष भोजन के लिए परिव्रजन—भिक्षाचरी करे। वह वस्तु के क्रय-विक्रय में संलग्न न हों। न स्वयं क्रय करे, न दूसरों से क्रय करवाए और न क्रय करने वाले का अनुमोदन करे।

वह (उक्त आचार का पालन करने वाला) भिक्षु कालज्ञ है, बलज्ञ है, मात्रज्ञ है, खेदज्ञ है, क्षणज्ञ है, विनयज्ञ है, समयज्ञ है, भावज्ञ है। परिग्रह पर ममत्व नहीं

---

१. चूर्णि में इसके स्थान पर 'आयरिए, आयरियपण्णे, आयरियदिट्ठी'—पाठ भी है। जिसका आशय है आचारवान, आचारप्रज्ञ तथा आचार्य की दृष्टि के अनुसार व्यवहार करने वाला।

रखने वाला, उचित समय पर उचित कार्य करने वाला अप्रतिज्ञ है। वह राग और द्वेष—दोनों का छेदन कर नियम तथा अनासक्ति पूर्वक जीवन यात्रा करता है।

विवेचन—चतुर्थ उद्देशक में भोग-निवृत्ति का उपदेश दिया गया। भोग-निवृत्त गृहत्यागी पूर्ण अहिंसाचारी श्रमण के समक्ष जब शरीर-निर्वाह के लिए भोजन का प्रश्न उपस्थित होता है, तो वह क्या करे? शरीर-धारण किये रखने हेतु आहार कहाँ से, किस विधि से प्राप्त करें? ताकि उसकी ज्ञान-दर्शन-चारित्र-यात्रा सुखपूर्वक गतिमान रहे। इसी प्रश्न का समाधान प्रस्तुत उद्देशक में दिया गया है।

सूत्र ८७-८८ में बताया है कि गृहस्थ स्वयं के तथा अपने सम्बन्धियों के लिए अनेक प्रकार का भोजन तैयार करते हैं। गृहत्यागी श्रमण उनके लिए बने हुए भोजन में से निर्दोष भोजन यथासमय यथाविधि प्राप्त कर लेवें।

वह भोजन की संधि—समय को देखे। गृहस्थ के घर पर जिस समय भिक्षा प्राप्त हो सकती हो, उस अवसर को जाने। चूर्णिकार ने संधि के दो अर्थ किये हैं—(१) संधि—भिक्षाकाल अथवा (२) ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप भाव संधि[1] (सु-अवसर) इसको जाने।

भिक्षाकाल का ज्ञान रखना अनगार के लिए बहुत आवश्यक है। भगवान महावीर के समय में भिक्षा का काल दिन का तृतीय पहर माना जाता था[2] जब कि उसके उत्तरवर्ती काल में क्रमशः द्वितीय पहर भिक्षाकाल मान लिया गया। इसके अतिरिक्त जिस देश-काल में भिक्षा का जो उपयुक्त समय हो, वही भिक्षाकाल माना जाता है। पिंडैषणा अध्ययन, दशवैकालिक (५) तथा पिंडनिर्युक्ति आदि ग्रन्थों में भिक्षाचरी का काल, विधि, दोष आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है।

श्रमण के लिए यहां तीन विशेषण दिये गये हैं—(१) आर्य, (२) आर्यप्रज्ञ, और (३) (३) आर्यदर्शी। ये तीनों विशेषण बहुत सार्थक है। आर्य का अर्थ है—श्रेष्ठ आचरण वाला[3] अथवा गुणी[4]। आचार्य शीलांक के अनुसार जिसका अन्तःकरण निर्मल हो वह आर्य है। जिसकी बुद्धि परमार्थ की ओर प्रवृत्त हो, वह आर्यप्रज्ञ है। जिसकी दृष्टि गुणों में सदा रमण करे वह अथवा न्याय मार्ग का द्रष्टा आर्यदर्शी है।[5]

सव्वामगंध—शब्द में आमगंध शब्द अशुद्ध, अग्रहणीय आहार का वाचक है। सामान्यतः 'आम' का अर्थ 'अपक्व' है। वैद्यक ग्रन्थों में अपक्व-कच्चा फल, अन्न आदि को आम शब्द से व्याख्यात किया है। पालिग्रन्थों में 'पाप' के अर्थ में 'आम' शब्द का प्रयोग हुआ है।[6] जैन

---

१. संधि, ज भणित भिक्खाकालो, ...अहवा नाण-दंसण-चरित्ताइ भाव संधी। ताइ लभित्ता—
—आचारांग चूर्णि

२. उत्तराध्ययन सूत्र—'तइयाए भिक्खायरियं'—२६।१२

३. नालन्दा विशाल शब्द सागर 'आर्य' शब्द।

४. गुणैः गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः—सर्वार्थ० ३।६ (जैन लक्षणावली, भाग १, पृ० २११)

५. आचा० शीला० टीका पत्रांक ११८।

६. देखें—आचारांग, आचार्य श्री आत्माराम जी ...

सूत्रों व टीकाओं में 'आम' व 'आमगंध' शब्द आधाकर्म्मादि दोष से दूषित, अशुद्ध तथा भिक्षु के लिए अकल्पनीय आहार के अर्थ में अनेक स्थानों पर आया है।[1]

कालज्ञ आदि शब्दों का विशेष आशय इस प्रकार है—

कालण्णे—कालज्ञ-भिक्षा के उपयुक्त समय को जाननेवाला अथवा काल—प्रत्येक आवश्यक क्रिया का उपयुक्त समय, उसे जानने वाला। समय पर अपना कर्तव्य पूरा करने वाला 'कालज्ञ' होता है।

बालण्णे—बलज्ञ—अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य को पहचाननेवाला तथा शक्ति का, तप, सेवा आदि में योग्य उपयोग करने वाला।

मातण्णे—मात्रज्ञ—भोजन आदि उपयोग में लेने वाली प्रत्येक वस्तु का परिमाण—मात्रा जानने वाला।

खेयण्णे—खेदज्ञ—दूसरों के दुःख एवं पीडा आदि को समझनेवाला तथा—क्षेत्रज्ञ—अर्थात् जिस समय व जिस स्थान पर भिक्षा के लिए जाना हो, उसका भलीभाँति ज्ञान रखने वाला।[2]

खणयण्णे—क्षणज्ञ—क्षण को, अर्थात् समय को पहचानने वाला। काल और क्षण में अन्तर यह है कि—काल, एक दीर्घ अवधि के समय को कहा गया है, जैसे दिन-रात, पक्ष आदि। क्षण—छोटी अवधि का समय। वर्तमान समय क्षण कहलाता है।

विणयण्णे—विनयज्ञ—ज्ञान-दर्शन-चारित्र को विनय कहा गया है। इन तीनों के सम्यक् स्वरूप को जानने वाला।[3] अथवा विनय—बड़ों एवं छोटों के साथ किया जाने वाला व्यवहार। व्यवहार के औचित्य का जिसे ज्ञान हो, जो लोक-व्यवहार का ज्ञाता हो। विनय का अर्थ आचार भी है।[4] अतः विनयज्ञ का अर्थ आचार का ज्ञाता भी है।

समयण्णे—समयज्ञ। यहाँ 'समय' का अर्थ सिद्धान्त है। स्व-पर सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञाता समयज्ञ कहलाता है।[5]

भावण्णे—भावज्ञ—व्यक्ति के भावों—चित्त के अव्यक्त आशय को, उसके हाव-भाव-चेष्टा एवं विचारों में ध्वनित होते गुप्त भावों को समझने में कुशल व्यक्ति भावज्ञ कहलाता है।[6]

परिग्गहं अममायमाणे—पद में 'परिग्रह' का अर्थ शरीर तथा उपकरण किया गया है।[7] साधु परिग्रह त्यागी होता है। शरीर एवं उपकरणों पर मूर्च्छा-ममता नहीं रखता। *अतः यहाँ* शरीर और उपकरण को 'परिग्रह' कहने का आशय—संयमोपयोगी बाह्य साधनों से ही है।

---

१. अभिधान राजेन्द्र भाग २, 'आम' शब्द पृष्ठ ३१५।
२. खित्तण्णो भिक्खायरियाकुसलो—आचा० चूर्णि।
३. आचा० टीका पत्रांक १२०।१।
४. उत्तरा० १।१ की टीका।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।१।
६. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।१।
७. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२०।२

उन शब्दादि [illegible] मात न करे। [illegible] भी ममत्व होने पर [illegible] है।

[illegible] करते जाना। [illegible] है।

अप्रतिज्ञ — [illegible] प्रतिज्ञा का एक अर्थ [illegible] भी है। सूत्रों में [illegible] के [illegible] आता है और [illegible] भी है। किन्तु [illegible] निग्रह एवं [illegible] है [illegible] किसी [illegible] प्रतिज्ञा के विषय में [illegible] है।

अप्रतिज्ञ शब्द से एक [illegible] यह भी [illegible] होता है कि साधक किसी विषय में प्रतिज्ञाबद्ध—एकान्त आग्रही न हो। [illegible] का विचार/निषेध भी [illegible] से करना चाहिए। जैसा कि कहा गया है—

न य किंचि अणुण्णायं पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं।
मोत्तुं मेहुणभावं, न तं विणा रागदोसेहिं।[1]

—जिनवरदेव ने एकान्त रूप से न तो किसी कार्य—(आचार) का विधान किया है, और न निषेध। सिर्फ मैथुनभाव (अब्रह्मचर्य, स्त्री-संग) का ही एकान्त निषेध है, क्योंकि उसमें राग के बिना प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती अतः उसके अतिरिक्त सभी आचारों का विधि-निषेध—उत्सर्ग-अपवाद सापेक्ष दृष्टि से समझना चाहिए। अप्रतिज्ञ शब्द से यह भाव भी छिपा हुआ है।

वस्त्र-पात्र-आहार संयम

८९. वत्थं पडिग्गहं कंबलं पादपुंछणं उग्गहं च कडासणं एतेसु चेव जाणेज्जा।

लद्धे आहारे अणगारो मातं जाणेज्जा। से जहेयं भगवता पवेदितं।

लाभो त्ति ण मज्जेज्जा, अलाभो त्ति ण सोएज्जा, बहुं पि लद्धुं ण णिहे। परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा। अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा।[4]

एस मग्गे आरिएहिं पवेदिते, जहेत्थ कुसले णोवलिंपिज्जासि त्ति बेमि।

८९. वह (संयमी) वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद प्रोंछन, (पाव पोंछने का वस्त्र), अवग्रह—स्थान और कटासन—चटाई आदि (जो गृहस्थ के लिए निर्मित हो) उनकी याचना करें।

---

१. आचा० टीका पत्रांक १२०।२

२. औपपातिक सूत्र, श्रमण अधिकार।

३. (क) अभि० राजेन्द्र भाग १, 'अपडिण्ण' शब्द। (ख) आचा० टीका पत्रांक १२०।२।

४. अण्णतरेण पासएण परिहरिज्जा—चूर्णि में इस प्रकार का पाठ है।

आहार प्राप्त होने पर, आगम के अनुसार, अनगार को उसकी मात्रा का ज्ञान होना चाहिए।

इच्छित आहार आदि प्राप्त होने पर उसका मद—अहंकार नही करें। यदि प्राप्त न हों तो शोक (चिंता) न करें। यदि अधिक मात्रा मे प्राप्त हो, तो उसका संग्रह न करे। परिग्रह से स्वयं को दूर रखे। जिस प्रकार गृहस्थ परिग्रह को ममत्व भाव से देखते हैं, उस प्रकार न देखे—अन्य प्रकार से देखे और परिग्रह का वर्जन करे।

यह (अनासक्ति का) मार्ग आर्य—तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया है, जिससे कुशल पुरुष (परिग्रह में) लिप्त न हो।

—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—साधु, जीवन यापन करता हुआ ममत्व से किस प्रकार दूर रहे, इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यह सूत्र प्रस्तुत करता है।

वस्त्र, पात्र, भोजन आदि जीवनोपयोगी उपकरणो के बिना जीवन निर्वाह नही हो सकता। साधु को इन वस्तुओं की गृहस्थ से याचना करनी पड़ती है। किन्तु वह इन वस्तुओं को 'प्राप्य' नहीं समझता। जैसे समुद्र पार करने के लिए नौका की आवश्यकता होती है, किन्तु समुद्र यात्री नौका को साध्य व लक्ष्य नहीं मानता, न उसमें आसक्त होता है, किन्तु उसे साधन मात्र मानता है और उस पर पहुंचकर नौका को छोड देता है। साधक धर्मोपकरण को इसी दृष्टि से ग्रहण करे और मात्रा अर्थात् मर्यादा एवं प्रमाण का ज्ञान रखता हुआ उनका उपयोग करे।

उग्गहणं (अवग्रहण) शब्द के दो अर्थ हैं—(१) स्थान अथवा (२) आज्ञा लेकर ग्रहण करना। आज्ञा के अर्थ में पाच अवग्रह—देवेन्द्र अवग्रह, राज अवग्रह, गृहपति अवग्रह, शय्यातर अवग्रह और साधर्मिक अवग्रह, प्रसिद्ध है।[1]

'मातं जाणेज्जा'—मात्रा को जानना—यह एक खास सूचना है। मात्रा—अर्थात् भोजन का परिमाण जाने। सामान्यतः भोजन की मात्रा खुराक का कोई निश्चित माप नही हो सकता, क्योंकि इसका सम्बन्ध भूख से है। सब की भूख या खुराक समान नहीं होती इसलिए भोजन की मात्रा भी समान नहीं है। फिर भी सर्व सामान्य अनुपात-दृष्टि से भोजन की मात्रा साधु के लिए बत्तीस कवल (कोर) और साध्वी के लिए अठाईस कवलप्रमाण बताई गई है।[2] उससे कुछ कम ही खाना चाहिए।

मात्रा—शब्द को आहार के अतिरिक्त, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों के साथ भी जोड़ना चाहिए, अर्थात् प्रत्येक ग्राह्य वस्तु की आवश्यकता को समझे, व जितना आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करे।

---

१. भगवती १६।२ तथा आचारांग सूत्र ६३५।
२. [illegible]

तीनों लोकों पर विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन करना ध्यान की एक विलक्षण पद्धति रही है।

इसी सूत्र में बताया गया है—भगवान महावीर अपने साधना काल में ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में तथा तिर्यग्लोक में (वहाँ स्थित तत्त्वों पर) ध्यान केन्द्रित करके समाधि भाव में लीन हो जाते थे।[1] 'लोक-भावना' में भी तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन तथा वहाँ स्थित पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित कर एकाग्र होने की साधना की जाती है।

४. (२) अनुपरिवर्तन का बोध—काम-भोग के आसेवन से काम वासना कभी भी शांत व तृप्त नहीं हो सकती, बल्कि अग्नि में घी डालने की भांति विषयाग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होती है। कामी बार-बार काम (विषय) के पीछे दौड़ता है, और अन्त में हाथ लगती है अशांति ! अतृप्ति !! इस अनुपरिवर्तन का बोध, साधक को जब होता है तो वह काम के पीछे दौड़ना छोड़कर काम को अकाम (वैराग्य) से शांत करने में प्रयत्नशील हो जाता है।

५. (३) संधि-दर्शन—टीकाकार ने संधि का अर्थ—'अवसर' किया है। यह मनुष्य-जन्म ज्ञानादि की प्राप्ति का, आत्म-विकास करने का, तथा अनन्त आत्म-वैभव प्राप्त करने का स्वर्णिम—अवसर है[2] यह सुवर्ण-संधि है, इसे जानकर वह काम-विरक्त होता है और 'काम-विजय' की ओर बढ़ता है।

'संधि-दर्शन' का एक अर्थ यह भी है—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर शरीर के प्रति राग-रहित होना। शरीर को मात्र अस्थि-कंकाल (हड्डियों का ढाँचा मात्र) समझना उसके प्रति आसक्ति को कम करता है।

शरीर में एक सौ अस्सी संधियाँ मानी गई हैं। इनमें चौदह महासंधियाँ हैं[3] उन पर विचार करना भी संधि-दर्शन है।

इस प्रकार काम-विरक्ति के आलम्बनभूत उक्त पाच विषयों का वर्णन दोनों सूत्रों में हुआ है।

'बद्धे पडिमोयए' से तात्पर्य है, जो साधक स्वयं काम-वासना से मुक्त है, वह दूसरों को (बद्ध) को मुक्त कर सकता है।

देह की असारता का बोध

९२. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।
अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति पुढो वि सवंताइं।[4] पंडिते पडिलेहाए।
से मतिमं परिण्णाय मा य हु लालं पच्चासी। मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए।

९२. (यह देह) जैसा भीतर है, वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है।

---

१. अध्ययन ९। सूत्रांक ३२०।गा० १०७—उड्ढं अधेय तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।"
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२४
३. देखे—आयारो—पृष्ठ ११४
४. (क) पुढो वीसवताइं—चूर्णि में पाठान्तर है। (ख) पृथगपि प्रत्येकमपि, अपि शब्दात् कुष्ठाद्यवस्थायां यौगपद्येनापि स्रवन्ति—टीका पत्र १२५

जब तक मनुष्य इस 'काम' के दुष्परिणाम को नहीं जान लेता, उससे विरक्ति होना कठिन है।

प्रस्तुत दो सूत्रों में काम-विरक्ति के पांच आलम्बन बताये हैं, जिसमें से दो का वर्णन सूत्र ९० में है। जैसे—

काम-विरक्ति का प्रथम आलम्बन बताया है—(१) जीवन की क्षणभंगुरता। आयुष्य प्रतिक्षण घटता जा रहा है, और इसको स्थिर रखना या बढ़ा लेना—किसी के वश का नहीं है। द्वितीय आलम्बन है—(२) कामी को होने वाले मानसिक परिताप, पीड़ा, शोक आदि को समझना।

साधक को 'आयतचक्षु' कहकर उसकी दीर्घदृष्टि तथा सर्वांग-चिन्तनशीलता—अनेकान्तदृष्टि होने की सूचना की है। अनेकान्तदृष्टि से वह विविध पक्षों पर गंभीरतापूर्वक विचारणा करने में सक्षम होता है। टीका के अनुसार 'इहलोक-परलोक के अपाय को देखने की क्षमता रखने वाला—आयतचक्षु है।'[1]

काम-वासना से चित्त को मुक्त करने के तीन आलम्बन—आधार सूत्र ९१ में इस प्रकार बताये गये हैं। ३. (१) लोक-दर्शन, ४. (२) अनुपरिवर्तन का बोध, ५. (३) संधि-दर्शन। क्रमशः इनका विवेचन इस प्रकार है—

३. (१) लोक-दर्शन—लोक को देखना। इस पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। (क) लोक का अधोभाग विषय-कषाय से आसक्त होकर शोक-पीड़ा आदि से दुःखी होता है। यहाँ अधोभाग का अर्थ अधोभागवर्ती नैरयिक समझना चाहिए।

लोक का ऊर्ध्वभाग (देव) तथा मध्यभाग (मनुष्य एवं तिर्यंच) भी विषय-कषाय में आसक्त होकर शोक व पीड़ा से दुःखी है।[2]

(ख) दीर्घदर्शी साधक—इस विषय पर भी चिन्तन करें—अमुक भाव व वृत्तियाँ अधोगति की हेतु है, अमुक ऊर्ध्वगति की तथा अमुक तिर्यग् (मध्य—मनुष्य-तिर्यंच) गति की हेतु है।[3]

(ग) लोक का अर्थ है—भोग्यवस्तु या विषय। शरीर भी भोग्य वस्तु या भोगायतन है। शरीर के तीन भाग कल्पित कर उन पर चिन्तन करना लोकदर्शन है। जैसे—

१ अधोभाग—नाभि से नीचे का भाग,

२ ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर का भाग,

३ तिर्यग्भाग—नाभि स्थान

इन तीनों भागों पर चिन्तन करे। यह अशुचि-भावना का एक सुन्दर माध्यम भी है। इससे शरीर की सुन्दरता, आसक्ति आदि की भावना दूर हो जाती है। शरीर के प्रति ममत्व-[illegible] है। बौद्ध साधना में इसे 'शरीर-विपश्यना' भी कहा गया है।[4]

१ [illegible]
२ [illegible] ३ [illegible] टीका पत्रांक—१०४
४ [illegible] (बार [illegible] के [illegible])
[illegible]—[illegible] पृ० ११२

तीनों लोको पर विभिन्न दृष्टियो से चिन्तन करना ध्यान की एक विलक्षण पद्धति रही है।

इसी सूत्र में बताया गया है—भगवान महावीर अपने साधना काल मे ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में तथा तिर्यग्लोक में (वहाँ स्थित तत्त्वो पर) ध्यान केन्द्रित करके समाधि भाव में लीन हो जाते थे।[1] 'लोक-भावना' में भी तीनों लोक के स्वरूप का चिन्तन तथा वहा स्थित पदार्थों पर ध्यान केन्द्रित कर एकाग्र होने की साधना की जाती है।

४. (२) **अनुपरिवर्तन का बोध**—काम-भोग के आसेवन से काम वासना कभी भी शांत व तृप्त नहीं हो सकती, बल्कि अग्नि में घी डालने की भांति विषयाग्नि अधिक प्रज्ज्वलित होती है। कामी बार-बार काम (विषय) के पीछे दौड़ता है, और अन्त में हाथ लगती है अशांति! अतृप्ति!! इस अनुपरिवर्तन का बोध, साधक को जब होता है तो वह काम के पीछे दौड़ना छोड़कर काम को अकाम (वैराग्य) से शात करने मे प्रयत्नशील हो जाता है।

५. (३) **संधि-दर्शन**—टीकाकार ने संधि का अर्थ—'अवसर' किया है। यह मनुष्य-जन्म ज्ञानादि की प्राप्ति का, आत्म-विकास करने का, तथा अनन्त आत्म-वैभव प्राप्त करने का स्वर्णिम—अवसर है[2] यह सुवर्ण-संधि है, इसे जानकर वह काम-विरक्त होता है और 'काम-विजय' की ओर बढ़ता है।

'संधि-दर्शन' का एक अर्थ यह भी है—शरीर की संधियो (जोडो) का स्वरूप-दर्शन कर शरीर के प्रति राग-रहित होना। शरीर को मात्र अस्थि-कंकाल (हड्डियों का ढाँचा मात्र) समझना उसके प्रति आसक्ति को कम करता है।

शरीर में एक सौ अस्सी संधियाँ मानी गई है। इनमें चौदह महासंधियाँ हैं[3] उन पर विचार करना भी संधि-दर्शन है।

इस प्रकार काम-विरक्ति के आलम्बनभूत उक्त पाच विषयों का वर्णन दोनों सूत्रो में हुआ है।

'**बद्धे पडिमोयए**' से तात्पर्य है, जो साधक स्वयं काम-वासना से मुक्त है, वह दूसरो को (बद्ध) को मुक्त कर सकता है।

देह की असारता का बोध

९२. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।
अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति पुढो वि सवंताइं।[4] पंडिते पडिलेहाए।
से मतिमं परिण्णाय मा य हु लालं पच्चासी। मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए।

९२. (यह देह) जैसा भीतर है, वैसा बाहर है, जैसा बाहर है वैसा भीतर है।

---

१. अध्ययन ६। सूत्रांक ३२०।गा० १०७—उड्ढ अधेय तिरिय च पेहमाणे समाहिमपडिण्णे।"
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १२४ ३. देखे—आया
४. (क) पुडो वीसवताइं—चूर्णि में पाठान्तर है। (ख) पृथगपि प्रत्येकमपि,
यौगपद्येनापि

इस शरीर के भीतर-भीतर अशुद्धि भरी हुई है, साधक इसे देखें। देह से झरते हुए अनेक अशुचि-स्रोतों को भी देखे। इस प्रकार पंडित शरीर की अशुचिता (तथा काम-विपाक) को भली-भाँति देखें।

वह मतिमान साधक (उक्त विषय को) जानकर तथा त्याग कर लार को न चाटे—वमन किये हुए भोगों का पुनः सेवन न करे। अपने को तिर्यग्मार्ग में—(काम-भोग के बीच में अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र से विपरीत मार्ग में) न फंसाए।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में 'अशुचि भावना' का वर्णन है। शरीर की अशुचिता को बताते हुए कहा है—यह जैसा भीतर में (मल-मूत्र-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-शुक्र आदि से भरा है) वैसा ही बाहर भी है। जैसा अशुचि से भरा मिट्टी का घड़ा, भीतर से अपवित्र रहता है, उसे बाहर से धोने पर भी वह शुद्ध नहीं होता इसी प्रकार भीतर से अपवित्र शरीर स्नान आदि करने पर भी बाहर में अपवित्र ही रहता है।

मिट्टी के अशुचि भरे घड़े से जैसे उसके छिद्रों में से प्रतिक्षण अशुचि झरती रहती है, उसीप्रकार शरीर से भी रोम-कूपों तथा अन्य छिद्रों (देहान्तर) द्वारा प्रतिक्षण अशुचि बाहर झर रही है—इस पर चिन्तन कर शरीर की सुन्दरता के प्रति राग तथा मोह को दूर करे।

यह अशुभ निमित्त (आलम्बन) से शुभ की ओर गतिशील होने की प्रक्रिया है। शरीर की अशुचिता एवं असारता का चिन्तन करने से स्वभावतः उसके प्रति आसक्ति तथा ममत्व कम हो जाता है।

'जहा अतो तहा बाहिं' का एक अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—साधक जिस प्रकार अन्तस् की शुद्धि (आत्म-शुद्धि) रखता है, उसी प्रकार बाहर की शुद्धि (व्यवहार-शुद्धि) भी रखता है।

जैसे बाहर की शुद्धि (व्यवहार की शुद्धि) रखता है, वैसे अन्तस् की शुद्धि भी रखता है। साधना में एकांगी नहीं, किन्तु सर्वांगीण शुद्धि बाहर-भीतर की एकरूपता होना अनिवार्य है।

लालं पच्चासी—द्वारा यह उद्बोधन किया गया है कि हे मतिमान! तुम जिन काम-भोगों का त्याग कर चुके हो, उनके प्रति पुनः देखो भी मत। त्यक्त की पुनः इच्छा करना—वान्त को, थूके हुए, वमन किये हुए को चाटना है।[1]

मा तेसु तिरिच्छ—शब्द से तिर्यक् मार्ग का सूचन है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र का मार्ग सरल व सीधा मार्ग है, इसके विपरीत मिथ्यात्व-कषाय आदि का मार्ग तिरछा—तिर्यक् व टेढा मार्ग है।[2] तुम ज्ञानादि के प्रतिकूल संसार मार्ग में न जाओ—यही भाव यहाँ पर समझना चाहिए।

---

१. उत्तराध्ययन-२२।४३ २. आचा० टीका पत्रांक १२५

गई। [illegible]
था कि, [illegible] देखा।

[illegible] जरासंध के दरबार में गई। जरासंध ने पूछा — सुन्दरी! तुम [illegible] क्यों हो? किसने तुम्हारा अपमान किया?

[illegible] ने व्यंग्यपूर्वक कहा — वह अमर है!

कौन अमर? जरासंध ने विस्मयपूर्वक पूछा।

धन सार्थवाह! वह धन को [illegible] में इतना बेभान है कि उसे मेरे पहुँचने का भी भान नहीं हुआ। जब वह मुझे भी नहीं देख पाता, तो वह आती मृत्यु को कैसे देखेगा? वह स्वयं को अमर जैसा समझता है।[1]

अर्थ-लोलुप व्यक्ति की इसी मानसिक दुर्बलता को उद्घाटित करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—वह भोग एवं अर्थ में आसक्त आत्मा पुरुष स्वयं को अमर की भाँति मानने लगता है और इस घोर आसक्ति का परिणाम आता है—आर्त्त—पीड़ा, अशान्ति और क्रन्दन। पहले भोग प्राप्ति की आकांक्षा में क्रन्दन करता है, रोता है, फिर भोग छूटने के शोक—(वियोग चिन्ता) में क्रन्दन करता है। इस प्रकार भोगासक्ति का अन्तिम परिणाम क्रन्दन—रोना ही है।

बहुमायी शब्द के द्वारा—क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों का बोध अभिप्रेत है। क्योंकि अव्यवस्थित चित्तवाला पुरुष कभी माया, कभी क्रोध, कभी अहंकार और कभी लोभ करता है। वह विक्षिप्त—पागल की तरह आचरण करने लगता है।[2]

सदोष-चिकित्सा-निषेध

६४. से तं जाणह जमहं बेमि। तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ।

अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारेति बाले।

ण एवं अणगारस्स जायति त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

६४. तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ। अपने को चिकित्सा-पंडित बताते हुए कुछ वैद्य, चिकित्सा (काम-चिकित्सा) में प्रवृत्त होते हैं। वह (काम-चिकित्सा के लिए) अनेक जीवों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करता है। 'जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूँगा', यह मानता हुआ (वह जीव-वध करता है)। वह जिसकी चिकित्सा करता है (वह भी जीव-वध में सहभागी होता है)।

(इस प्रकार की हिंसा-प्रधान चिकित्सा करने वाले) अज्ञानी की संगति से

१. आचा० टीका पत्रांक १२६।१

२. आचा० टीका पत्रांक १२५

क्या लाभ है ! जो ऐसी चिकित्सा करवाता है, वह भी बाल—अज्ञानी है।

अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं करवाता।—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में हिंसा-जन्य चिकित्सा का निषेध है। पिछले सूत्रों में काम (विषयों) का वर्णन आने से यहाँ यह भी संभव है कि काम-चिकित्सा को लक्ष्य कर ऐसा कथन किया है। काम-वासना की तृप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार की औषधियों का (वाजीकरण-उपबृंहण आदि के लिए) सेवन करता है, मरफिया आदि के इन्जेक्शन लेता है, शरीर के अवयव जीर्ण व क्षीणसत्त्व होने पर अन्य पशुओं के अंग-उपांग-अवयव लगाकर काम-सेवन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है। उसके निमित्त वैद्य-चिकित्सक अनेक प्रकार की जीव हिंसा करते हैं। चिकित्सक और चिकित्सा करानेवाला दोनों ही इस हिंसा के भागीदार होते हैं। यहाँ पर साधक के लिए इस प्रकार की चिकित्सा का सर्वथा निषेध किया गया है।

इस सूत्र के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण व्याधि-चिकित्सा (रोग-उपचार) का भी है।

श्रमण की दो भूमिकाएँ है—(१) जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनकल्पी श्रमण संघ से अलग स्वतन्त्र, एकाकी रहकर साधना करते थे। वे अपने शरीर का प्रतिकर्म अर्थात् सार-संभाल, चिकित्सा आदि भी नहीं करते-कराते। (२) स्थविरकल्पी श्रमण संघीय जीवन जीते हैं। संयम-यात्रा का समाधिपूर्वक निर्वाह करने के लिए शरीर को भोजन, निर्दोष औषधि आदि से साधना के योग्य रखते है। किन्तु स्थविरकल्पी श्रमण भी शरीर के मोह में पड़कर व्याधि आदि के निवारण के लिए सदोष-चिकित्सा का, जिसमें जीव-हिंसा होती हो, प्रयोग न करे। यहाँ पर इसी प्रकार की सदोष-चिकित्सा का स्पष्ट निषेध किया गया है।

॥ पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ

षष्ठ उद्देशक

सर्व अव्रत-विरति

६५. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा ण कारवे।

६६. सिया तत्थ एकयरं विप्परामुसति छसु अण्णयरम्मि कप्पति। सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति। सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वति जंसिमे पाणा पव्वहिता।

६५. वह (साधक) उस (पूर्वोक्त विषय) को सम्यक्प्रकार से जानकर संयम साधना में समुद्यत हो जाता है। इसलिए वह स्वयं पाप कर्म न करें, दूसरों से न करवाएं (अनुमोदन भी न करें)।

६६. कदाचित् (वह प्रमाद या अज्ञानवश) किसी एक जीवकाय का समारंभ करता है, तो वह छहों जीव-कायों में से (किसी का भी या सभी का) समारंभ कर

गई। सार्थवाह अपने आय-व्यय का हिसाब जोड़ने और स्वर्णमुद्राएँ गिनने में इतना दत्तचित्त था कि, उसने द्वार पर खड़ी सुन्दरी गणिका की ओर नजर उठाकर भी नहीं देखा।

मगधसेना का अहंकार तिलमिला उठा। दाँत पीसती हुई उदास मुख लिए वह सम्राट जरासंध के दरबार में गई। जरासंध ने पूछा—सुन्दरी! तुम उदास क्यों हो? किसने तुम्हारा अपमान किया?

मगधसेना ने व्यंग्यपूर्वक कहा—उस अमर ने।

कौन अमर?—जरासंध ने विस्मयपूर्वक पूछा।

धन सार्थवाह! वह धन की चिन्ता में, स्वर्ण-मुद्राओं की गणना में इतना बेभान है कि उसे मेरे पहुंचने का भी भान नहीं हुआ। जब वह मुझे भी नहीं देख पाता, तो वह अपनी मृत्यु को कैसे देखेगा? वह स्वयं को अमर जैसा समझता है।[1]

अर्थ-लोलुप व्यक्ति की इसी मानसिक दुर्बलता को उद्‌घाटित करते हुए शास्त्रकार ने कहा है—वह भोग एवं अर्थ में अत्यन्त आसक्त पुरुष स्वयं को अमर की भाँति मानने लगता है और इस घोर आसक्ति का परिणाम आता है—आर्तता—पीड़ा, अशान्ति और क्रन्दन। पहले भोग प्राप्ति की आकांक्षा में क्रन्दन करता है, रोता है, फिर भोग छूटने के शोक—(वियोग चिन्ता) में क्रन्दन करता है। इस प्रकार भोगासक्ति का अन्तिम परिणाम क्रन्दन—रोना ही है।

बहुमायी शब्द के द्वारा—क्रोध, मान, माया और लोभ चारों कषायों का बोध अभिप्रेत है। क्योंकि अव्यवस्थित चित्तवाला पुरुष कभी माया, कभी क्रोध, कभी अहंकार और कभी लोभ करता है। वह विक्षिप्त—पागल की तरह आचरण करने लगता है।[2]

सदोष-चिकित्सा-निषेध

६४. से तं जाणह जमहं वेमि। तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवइत्ता 'अकडं करिस्सामि' त्ति मण्णमाणे, जस्स वि य णं करेइ।

अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारेति बाले।

ण एवं अणगारस्स जायति त्ति बेमि।

॥ पंचमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

६४. तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ। अपने को चिकित्सा-पंडित बताते हुए कुछ वैद्य, चिकित्सा (काम-चिकित्सा) में प्रवृत्त होते हैं। वह (काम-चिकित्सा के लिए) अनेक जीवों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करता है। 'जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूँगा', यह मानता हुआ (वह जीव-वध करता है)। वह जिसकी चिकित्सा करता है (वह भी जीव-वध में सहभागी होता है)।

(इस प्रकार की हिंसा-प्रधान चिकित्सा करने वाले) अज्ञानी की संगति से

---

१. आचा० टीका पत्रांक १२६।१

२. आचा० टीका पत्रांक १२५

सकता है। वह सुख का अभिलाषी, बार-बार सुख की इच्छा करता है, (किन्तु) स्व-कृत कर्मों के कारण, (व्यथित होकर) मूढ बन जाता है और विषयादि सुख के बदले दु:ख को प्राप्त करता है। वह (मूढ) अपने अति प्रमाद के कारण ही अनेक योनियों में भ्रमण करता है, जहाँ पर कि प्राणी अत्यन्त दु:ख भोगते हैं।

विवेचन—पूर्व उद्देशकों में, परिग्रह तथा काम की आसक्ति से ग्रस्त मनुष्य की मनोदशा का वर्णन किया गया है। यहाँ उसी संदर्भ में कहा है—आसक्ति से होने वाले दुखों को समझकर साधक किसी भी प्रकार का पाप कार्य न करे।

पाप कर्म न करने के संदर्भ में टीकाकार ने प्रसिद्ध अठारह पापों का नाम-निर्देश किया है, तथा बताया है, ये तो मुख्य नाम हैं, वैसे मन के जितने पापपूर्ण संकल्प होते हैं, उतने ही पाप हो सकते है। उनकी गणना भी संभव नहीं है। साधक मन को पवित्र करले तो पाप स्वयं नष्ट हो जायं। अत: वह किसी भी प्रकार का पाप न करें, न करवाएँ, अनुमोदन न करने का भाव भी इसी में अन्तर्निहित है।

सूत्र ९६ में एक गूढ़ आध्यात्मिक पहेली को स्पष्ट किया है। संभव है; कदाचित् कोई साधक प्रमत्त हो जाय[1], और किसी एक जीव-निकाय की हिंसा करें, अथवा जो असंयत हैं—अन्य श्रमण परिव्राजक हैं, वे किसी एक जीवकाय की हिंसा करें तो क्या वे अन्य जीव-कायों की हिंसा से बच सकेंगे? इसका समाधान दिया गया है—'छसु अण्णयरम्मि कप्पति' एक जीवकाय की हिंसा करने वाला छहों काय की हिंसा कर सकता है।

भगवान महावीर के समय में अनेक परिव्राजक यह कहते थे कि—'हम केवल पीने के लिए पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते।' गैरिक व शाक्य आदि श्रमण भी यह कहते थे कि—'हम केवल भोजन के निमित्त जीव हिंसा करते हैं, अन्य कार्य के लिए नहीं।'

सम्भव है ऐसा कहने वालो को सामने रखकर आगम में यह स्पष्ट किया गया है कि—जब साधक के चित्त में किसी एक जीवकाय की हिंसा का संकल्प हो गया तो वह अन्य जीवकाय की हिंसा भी कर सकता है, और करेगा! क्योंकि जब अखण्ड अहिंसा की चित्त धारा खण्डित हो चुकी है, अहिंसा की पवित्र चित्तवृत्ति मलिन हो गई है, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक जीवकायकी हिंसा करे और अन्य के प्रति मैत्री या करुणा भाव दिखाए? दूसरा कारण यह भी है कि—

यदि कोई जलकाय की हिंसा करता है, तो जल में वनस्पति का नियमत: सद्भाव है, जलकाय की हिंसा करने वाला वनस्पतिकाय की हिंसा भी करता ही है। जल के हलन-चलन-प्रकम्पन से वायुकाय की भी हिंसा होती है, जल और वायुकाय के समारंभ से वहाँ रही हुई अग्नि भी प्रज्वलित हो सकती है तथा जल के आश्रित अनेक प्रकार के सूक्ष्म त्रस जीव भी

१. 'सिया कयाइ ते इति अप्पतरस्स निद्देसो पमत्तसंजतस्स वा·····। —आचा० चूर्णि (जम्बू० पृ० २८)

सकता है। वह सुख का अभिलाषी, बार-बार सुख की इच्छा करता है, (किन्तु) स्व-कृत कर्मों के कारण, (व्यथित होकर) मूढ बन जाता है और विषयादि सुख के बदले दु:ख को प्राप्त करता है। वह (मूढ) अपने अति प्रमाद के कारण ही अनेक योनियों में भ्रमण करता है, जहाँ पर कि प्राणी अत्यन्त दु:ख भोगते है।

विवेचन—पूर्व उद्देशकों में, परिग्रह तथा काम की आसक्ति से ग्रस्त मनुष्य की मनोदशा का वर्णन किया गया है। यहाँ उसी संदर्भ में कहा है—आसक्ति से होने वाले दुखों को समझकर साधक किसी भी प्रकार का पाप कार्य न करे।

पाप कर्म न करने के संदर्भ में टीकाकार ने प्रसिद्ध अठारह पापों का नाम-निर्देश किया है, तथा बताया है, ये तो मुख्य नाम हैं, वैसे मन के जितने पापपूर्ण संकल्प होते हैं, उतने ही पाप हो सकते है। उनकी गणना भी संभव नही है। साधक मन को पवित्र करले तो पाप स्वयं नष्ट हो जायें। अतः वह किसी भी प्रकार का पाप न करें, न करवाएं, अनुमोदन न करने का भाव भी इसी में अन्तर्निहित है।

सूत्र ९६ में एक गूढ आध्यात्मिक पहेली को स्पष्ट किया है। संभव है; कदाचित् कोई साधक प्रमत्त हो जाय[1], और किसी एक जीव-निकाय की हिंसा करें, अथवा जो असंयत हैं—अन्य श्रमण परिव्राजक हैं, वे किसी एक जीवकाय की हिंसा करें तो क्या वे अन्य जीव-कायों की हिंसा से बच सकेंगे? इसका समाधान दिया गया है—'छसु अण्णयरम्मि कप्पति' एक जीवकाय की हिंसा करने वाला छहों काय की हिंसा कर सकता है।

भगवान महावीर के समय में अनेक परिव्राजक यह कहते थे कि—'हम केवल पीने के लिए पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नही करते।' गैरिक व शाक्य आदि श्रमण भी यह कहते थे कि—'हम केवल भोजन के निमित्त जीव हिंसा करते हैं, अन्य कार्य के लिए नही।'

सम्भव है ऐसा कहने वालो को सामने रखकर आगम में यह स्पष्ट किया गया है कि—जब साधक के चित में किसी एक जीवकाय की हिंसा का संकल्प हो गया तो वह अन्य जीवकाय की हिंसा भी कर सकता है, और करेगा! क्योंकि जब अखण्ड अहिंसा की चित्त धारा खण्डित हो चुकी है, अहिंसा की पवित्र चित्तवृत्ति मलिन हो गई है, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक जीवकायकी हिंसा करे और अन्य के प्रति मैत्री या करुणा भाव दिखाए। दूसरा कारण यह भी है कि—

यदि कोई जलकाय की हिंसा करता है, तो जल में वनस्पति का नियमतः सद्भाव है, जलकाय की हिंसा करने वाला वनस्पतिकाय की हिंसा भी करता ही है। जल के हलन-चलन-प्रकम्पन से वायुकाय की भी हिंसा होती है, जल और वायुकाय के समारंभ से वहाँ रही हुई अग्नि भी प्रज्वलित हो सकती है तथा जल के आश्रित अनेक प्रकार के सूक्ष्म त्रस जीव भी

---

1. 'सिया कयाइ य इति अभुज्जतस्स निद्देसो पमत्तसंजतस्स वा....। —आचा० चूर्णि (जम्बू० पृ० २८)

६६. सद्दे फासे अधियासमाणे णिव्विंद णंदिं इह जीवियस्स।
मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरगं।
पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्तदंसिणो।[1]
एस ओघतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि।

६८. वीर साधक अरति (संयम के प्रति अरुचि) को सहन नही करता, और रति (विषयों की अभिरुचि) को भी सहन नही करता। इसलिए वह वीर इन दोनों में ही अविमनस्क—स्थिर-शान्तमना रह कर रति-अरति में आसक्त नही होता।

६६. मुनि (रति-अरति उत्पन्न करने वाले मधुर एवं कटु) शब्द (रूप, रस गन्ध,) और स्पर्श को सहन करता है। इस असंयम जीवन में होने वाले आमोद आदि से विरत होता है।

मुनि मौन (संयम अथवा ज्ञान) को ग्रहण करके कर्म-शरीर को धुन डालता है, (आत्मा से दूर कर देता है)

वे समत्वदर्शी वीर साधक. रूखे-सूखे (नीरस आहार) का समभाव पूर्वक सेवन करते हैं।

वह (समदर्शी) मुनि, जन्म-मरणरूप संसार प्रवाह को तैर चुका है, वह वास्तव में मुक्त, विरत कहा जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में साधक को समत्वदर्शी शात और मध्यस्थ बनने का प्रतिपादन किया गया है।

रति और अरति—यह मनुष्य के अन्त करण में छुपी हुई दुर्बलता हैं। राग-द्वेष-वृत्ति के गाढ या सूक्ष्म जमे हुए संस्कार ही मनुष्य को मोहक विषयो के प्रति आकृष्ट करते हैं, तथा प्रतिकूल विषयो का सम्पर्क होने पर चंचल बना देते है।

यहाँ अरति—का अर्थ है संयम-साधना में, तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, आदि के प्रति उत्पन्न होने वाली अरुचि एवं अनिच्छा। इसप्रकार की अरुचि संयम-साधना के लिए घातक होती है।

रति—का अर्थ है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि मोहक विषयों से जनित चित्त की प्रसन्नता/रुचि या आकर्पण।[2]

उक्त दोनों ही वृत्तियो से अरति और रति से, संयम-साधना खंडित और भ्रष्ट हो सकती है अत: वीर, पराक्रमी, इन्द्रिय-विजेता साधक अपना ही अनिष्ट करने वाली ऐसी वृत्तियों

---

१. सम्मत्तदंसिणो—पाठान्तर भी है।

२. उत्तरा० अ० ५ की टीका। देखें अभि० राजेन्द्र भाग ६. पृ० ४६७। यही पर आगमो के प्रसगानुसारी रति शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे—मैथुन (उत्त० १४) स्त्री-सुख (उत्त० १६) मनोवाछित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता (दर्शन० १ तत्त्व) क्रीड़ा (दशवै० १) मोहनीय कर्मोदय जनित आनन्द रूप मनोविकार (धर्म० २ अधि)

संज्ञा का त्याग करे, तथा संयम में पुरुषार्थ करे। वास्तव में उसे ही मतिमान (बुद्धिमान) ज्ञानी पुरुष कहा गया है—ऐसा मैं कहता हूं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में ममत्वबुद्धि का त्याग तथा लोक-संज्ञा से मुक्त होने का निर्देश किया है। ममत्व-बुद्धि—मूर्च्छा एवं आसक्ति, बन्धन का मुख्य कारण है। पदार्थ के सम्बन्ध मात्र से न तो चित्त कलुषित होता हैं, और न कर्म बन्धन होता है। पदार्थ के साथ-साथ जब ममत्वबुद्धि जुड़ जाती है तभी वह पदार्थ परिग्रह कोटि में आता है और तभी उससे कर्म बंध होता है। इसलिए सूत्र में स्पष्ट कहा है—जो ममत्वबुद्धि का त्याग कर देता है, वह सम्पूर्ण ममत्व अर्थात् परिग्रह का त्याग कर देता है। और वही परिग्रह-त्यागी पुरुष वास्तव में सत्य पथ का द्रष्टा है, पथ का द्रष्टा—सिर्फ पथ को जानने वाला नहीं, किन्तु उस पथ पर चलने वाला होता है—यह तथ्य यहाँ संकेतित है।

लोक को जानने का आशय है—संसार में परिग्रह तथा हिंसा के कारण ही समस्त दुःख व पीड़ाएँ होती हैं तथा संसार परिभ्रमण बढ़ता है, यह जाने।

लोगसण्णं—लोक-संज्ञा के तीन अर्थ ग्रहण किये गये हैं, (१) आहार, भय आदि दस प्रकार की लोक संज्ञा।[1] (२) यश कामना, अहंकार, प्रदर्शन की भावना, मोह, विषयाभिलाषा, विचार-मूढ़ता, गतानुगतिक वृत्ति, आदि। (३) मनगढ़न्त लौकिक रीतियाँ—जैसे श्वान यक्ष रूप है, विप्र देवरूप है, अपुत्र की गति नहीं होती आदि।[2]

इन तीनों प्रकार की संज्ञाओं/वृत्तियों का त्याग करने का उद्देश्य यहाँ अपेक्षित है। 'लोक संज्ञाष्टक' में इस विषय पर विस्तृत विवेचन करते हुए आचार्यों ने बताया है—

लोकसंज्ञोज्झितः साधुः परब्रह्म समाधिमान्।
सुखमास्ते गतद्रोह-ममता-मत्सरज्वरः ॥८॥[3]

—शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमणरूप समाधि में स्थित, द्रोह, ममता (द्वेष एवं राग) मात्सर्य रूप ज्वर से रहित, लोक संज्ञा से मुक्त साधु संसार में सुखपूर्वक रहता है।

अरति-रति-विवेक

९८. णारतिं सहती[4] वीरे, वीरे णो सहती रतिं।
[5]जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे ण रज्जति ॥३॥

---

१. (क) दस संज्ञाएं इस प्रकार है—(१) आहार संज्ञा, (२) भयसंज्ञा (३) मैथुन संज्ञा (४) परिग्रह संज्ञा (५) क्रोध संज्ञा (६) मान संज्ञा (७) माया संज्ञा (८) लोभ संज्ञा (९) ओघ संज्ञा (१०) लोक संज्ञा। —प्रज्ञापना सूत्र, पद १०

(ख) आचा॰ शीला॰ टीका पत्रांक १२९

२. देखें अभि॰ राजेन्द्र, भाग ६, पृ॰ ७४१

३. अभि॰ राजेन्द्र भाग ६, पृ॰ ७४१ 'लोग सण्णा' शब्द। ४. सहते, सहति—पाठान्तर है।

५. चूर्णि में पाठान्तर—जम्हा अविमणो वीरो तम्हादेव विरज्जते—अर्थात् वीर जिससे अविमनस्क होता है, उसके प्रति राग नहीं करता।

६६. सद्दे फासे अधियासमाणे णिव्विद णंदि इह जीवियस्स ।
मुणी मोणं समादाय धुणे कम्मसरीरगं ।
पंतं लूहं सेवंति वीरा समत्तदंसिणो ।[1]
एस ओघंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरते वियाहिते त्ति बेमि ।

६८. वीर साधक अरति (संयम के प्रति अरुचि) को सहन नही करता, और रति (विषयों की अभिरुचि) को भी सहन नहीं करता। इसलिए वह वीर इन दोनो में ही अविमनस्क—स्थिर-शान्तमना रह कर रति-अरति में आसक्त नही होता।

६६. मुनि (रति-अरति उत्पन्न करने वाले मधुर एवं कटु) शब्द (रूप, रस गन्ध,) और स्पर्श को सहन करता है। इस असंयम जीवन में होने वाले आमोद आदि से विरत होता है।

मुनि मौन (संयम अथवा ज्ञान) को ग्रहण करके कर्म-शरीर को धुन डालता है, (आत्मा से दूर कर देता है)

वे समत्वदर्शी वीर साधक. रूखे-सूखे (नीरस आहार) का समभाव पूर्वक सेवन करते हैं।

वह (समदर्शी) मुनि, जन्म-मरणरूप संसार प्रवाह को तैर चुका है, वह वास्तव में मुक्त, विरत कहा जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में साधक को समत्वदर्शी शात और मध्यस्थ बनने का प्रतिपादन किया गया है।

रति और अरति—यह मनुष्य के अन्तःकरण में छुपी हुई दुर्बलता हैं। राग-द्वेष-वृत्ति के गाढ या सूक्ष्म जमे हुए संस्कार ही मनुष्य को मोहक विषयों के प्रति आकृष्ट करते हैं, तथा प्रतिकूल विषयो का सम्पर्क होने पर चंचल बना देते हैं।

यहाँ अरति—का अर्थ है संयम-साधना में, तपस्या, सेवा, स्वाध्याय, आदि के प्रति उत्पन्न होने वाली अरुचि एवं अनिच्छा। इसप्रकार की अरुचि संयम-साधना के लिए घातक होती है।

रति—का अर्थ है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि मोहक विषयो से जनित चित्त की प्रसन्नता/रुचि या आकर्षण।[2]

उक्त दोनों ही वृत्तियों से अरति और रति से, संयम-साधना खंडित और भ्रष्ट हो सकती है अतः वीर, पराक्रमी, इन्द्रिय-विजेता साधक अपना ही अनिष्ट करने वाली ऐसी वृत्तियों

---

१. सम्मत्तदंसिणो—पाठान्तर भी है।

२. उत्तरा० अ० ५ की टीका। देखें अभि० राजेन्द्र भाग ६ पृ० ४६७। यही पर आगमो के प्रसंगानुसारी रति शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे—मैथुन (उत्त० १४) स्त्री-सुख (उत्त० १६) मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न प्रसन्नता (दर्शन० १ तत्त्व) क्रीडा (दशवै० १) मोहनीय कर्मोदय जनित आनन्द रूप मनोविकार (धर्म० २ अधि)

को सहन कैसे करेगा ? वह तो उसके भुक्त नहीं है, अतः वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह न तो भोग-रति को सहन करेगा और न संयम-अरति को। इसलिए वह इन दोनों वृत्तियों में ही अविमनस्क अर्थात् शान्त एवं मध्यस्थ रहकर उनसे विरत रहता है।

सूत्र ९९ में पाँच इन्द्रिय विषयों में प्रथम व अन्तिम विषय का उल्लेख करके मध्य के तीन विषय उसीमें अन्तर्निहित कर दिये हैं। इन्हें क्रमशः यों समझना चाहिए— शब्द, रूप, रस गंध और स्पर्श। ये कभी मधुर मोहक रूप में मन को ललचाते हैं तो कभी कटु अप्रिय रूप में आकर चित्त को उद्वेलित भी कर देते हैं। साधक इनके प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल—दोनों प्रकार के स्पर्शों के प्रति समभाव रखता है। ये विषय ही तो आगामी जीवन में प्रमोद के कारण होते हैं, अतः इनसे निर्विण्ण—उदासीन रहने का यहाँ स्पष्ट संकेत किया है।

मोणं—मौन के दो अर्थ किये जाते हैं, मौन—मुनि का भाव—संयम, अथवा मुनि जीवन का मूल आधार ज्ञान।[1]

धुणे कम्मसरीरगं—से तात्पर्य है, इस औदारिक शरीर को धुनने से, क्षीण करने से तब तक कोई लाभ नहीं, जब तक राग द्वेष जनित कर्म (कार्मण) शरीर को क्षीण नहीं किया जाये। साधना का लक्ष्य कर्म शरीर (आठ प्रकार के कर्म) को क्षीण करना ही है। यह औदारिक शरीर तो साधना का साधन मात्र है। हाँ, संयम के साधनभूत शरीर के नाम पर वह इसके प्रति ममत्व भी न लाये, सरस-मधुर आहार से इसकी वृद्धि भी न करें, इस बात का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा है—**पंत लूहं सेवंति**—वह साधक शरीर से धर्म साधना करने के लिए रुखा-सूखा, निर्दोष विधि से यथाप्राप्त भोजन का सेवन करे।

टीका आदि में **समत्तदंसिणो** के स्थान पर **सम्मत्तदंसिणो** पाठ उपलब्ध है। टीकाकार शीलांकाचार्य ने इसका पहला अर्थ 'समत्वदर्शी तथा वैकल्पिक दूसरा अर्थ—सम्यक्त्वदर्शी किया है।[2] यहाँ नीरस भोजन के प्रति 'समभाव' का प्रसंग होने से समत्वदर्शी अर्थ अधिक संगत लगता है। वैसे 'सम्यक्त्वदर्शी' में भी सभी भाव समाहित हो जाते हैं। वह सम्यक्त्व दर्शी वास्तव में संसार समुद्र को तैर चुका है। क्योंकि सम्यक्त्व की उपलब्धि संसार प्रवाह को तैरने की निश्चित साक्षी है।

बंध-मोक्ष परिज्ञान

१००. दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाति वत्तए।

१०१. एस वीरे पसंसिए अच्चेति लोगसंजोगं। एस णाए पवुच्चति।

जं दुक्खं पवेदितं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति, इति कम्मं परिण्णाय सव्वसो।

---

१. अभि० राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ४४६ पर इसी सन्दर्भ मे मोण का अर्थ वचन-संयम भी किया है—'वाचः संयमनं।' तथा सर्वज्ञोक्तप्रवचनरूप ज्ञान (आचा० ५।२) सम्यक्चारित्र (उत्त० १५) समस्त सावद्य योगों का त्याग (आचा० ५।३) मौनव्रत (स्थाना० ५।१) आदि अनेक अर्थ किये हैं।

२. आचारांग टीका पत्रांक १३०।

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,[1] जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी।[2]

१००. जो पुरुष वीतराग की आज्ञा का पालन नहीं करता वह संयम-धन (ज्ञानादि रत्नत्रय) से रहित—दुर्वसु है। वह धर्म का कथन—निरूपण करने में ग्लानि (लज्जा या भय) का अनुभव करता है, (क्योंकि) वह चारित्र की दृष्टि से तुच्छ—हीन जो है।

वह वीर पुरुष (जो वीतराग की आज्ञा के अनुसार चलता है) सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है और लोक-संयोग (धन, परिवार आदि जंजाल) से दूर हट जाता है, मुक्त हो जाता है। यही न्याय्य (तीर्थंकरों का) मार्ग कहा जाता है।

यहाँ (संसार में) मनुष्यों के जो दुःख (या दुःख के कारण) बताये हैं, कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा—विवेक (दुःख से मुक्त होने का मार्ग) बताते हैं। इस प्रकार कर्मों (कर्म तथा कर्म के कारण) को जानकर सर्व प्रकार से (निवृत्ति करे)।

जो अनन्य (आत्मा) को देखता है, वह अनन्य (आत्मा) में रमण करता है। जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है।

विवेचन—उक्त दो सूत्रों में बंध एवं मोक्ष का परिज्ञान दिया गया है। सूत्र १०० में बताया है, जो साधक वीतराग की आज्ञा की आराधना नहीं करता, अर्थात् आज्ञानुसार सम्यग् आचरण नहीं करता वह ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप धन से दरिद्र हो जाता है। जिन शासन में वीतराग की आज्ञा की आराधना ही संयम की आराधना मानी गई है। 'आणाए मामगं धम्मं'—आदि वचनों में आज्ञा और धर्म का सह-अस्तित्व बताया गया है, जहाँ आज्ञा है, वहीं धर्म है, जहाँ धर्म है वहाँ आज्ञा है। आज्ञा-विपरीत आचरण का अर्थ है—संयम-विरुद्ध आचरण। संयम से हीन साधक धर्म की प्ररूपणा करने में, ग्लानि—अर्थात् लज्जा का अनुभव करने लगता है। क्योंकि जब वह स्वयं धर्म का पालन नहीं करता, तो उसका उपदेश करने का साहस कैसे करेगा? उसमें आत्मविश्वास की कमी हो जायेगी, तथा हीनता की भावना से स्वयं ही आक्रान्त हो जायेगा। अगर दुस्साहस करके धर्म की बातें करेगा तब भी उसकी वाणी में लज्जा, भय और असत्य की गंध छिपी रहेगी।

अगले सूत्र में आज्ञा की आराधना करने वाले मुनि के विषय में बताया है—वही सर्वत्र प्रशंसा प्राप्त करता है, जो वीतराग की आज्ञा का आराधक है। वह वास्तव में वीर (निर्भय) होता है, धर्म का उपदेश करने में कभी हिचकिचाता नहीं। उसकी वाणी में भी सत्य का प्रभाव व ओज गूंजता है।

लोग संजोगं—का तात्पर्य है—वह वीर साधक धर्माचरण करता हुआ संसार के संयोगों—बंधनों से मुक्त हो जाता है।

संयोग दो प्रकार के है—(१) बाह्य संयोग—धन, भवन, पुत्र, परिवार आदि।

---

१. 'अणण्णरामे' पाठान्तर है।

२. चूर्णि में पाठान्तर—"से णियमा अणण्णदिट्ठी।"

(२) आभ्यन्तर संयोग—राग-द्वेष, कषाय, आठ प्रकार के कर्म आदि। आज्ञा का आराधक संयमी उक्त दोनों प्रकार के संयोगों से मुक्त होता है।

एस णाए—शब्द के दो अभिप्राय हैं—यह न्याय मार्ग (सन्मार्ग) है, तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित मार्ग है। सूत्रकृत् में भी 'नेयाउयं सुयक्खायं'[1] एवं 'सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं'[2] पद द्वारा सम्यग् ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक मोक्षमार्ग का तथा मोक्ष स्थान का सूचन किया गया है।

एस नायकः—यह—आज्ञा में चलने वाला मुनि मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाला नायक—नेता है। यह दूसरा अर्थ है।[3]

जं दुक्खं पवेदितं—पद में दुःख शब्द से दुःख के हेतुओं का भी ग्रहण किया गया है। दुःख का हेतु राग-द्वेष है अथवा राग-द्वेषात्मक वृत्ति से आकृष्ट—बद्ध कर्म है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार जन्म और मरण दुःख है और जन्म-मरण का मूल है—कर्म।[4] अतः कर्म ही वास्तव में दुःख है। कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा—अर्थात् दुःख से मुक्त होने का विवेक/ज्ञान बताते हैं।

इह कम्मं परिन्नाय सव्वसो—इस पद का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है, 'साधक कर्म को, अर्थात् दुःख के समस्त कारणों को सम्यक्तया जानकर फिर उसका सर्व प्रकार से उपदेश करे।

अणण्णदंसी अणण्णारामे—ये दोनों शब्द आध्यात्मिक रहस्य के सूचक प्रतीत होते हैं। अध्यात्म की भाषा में चेतन को 'स्व' तथा जड़ को 'पर'—अन्य कहा गया है। परिग्रह, कषाय, विषय आदि सभी 'अन्य' हैं। 'अन्य' से अन्य—अनन्य है, अर्थात् चेतन का स्वरूप, आत्म-स्वभाव, वह अनन्य है। जो इस अनन्य को देखता है, वह इस अनन्य में, आत्मा में रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह आत्मा को देखता है। आत्म-रमण एवं आत्म-दर्शन का यह क्रम है कि जो पहले आत्म-दर्शन करता है, वह आत्म-रमण करता है। जो आत्म-रमण करता है, वह फिर अत्यन्त निकटता से, अति सूक्ष्मता व तन्मयता से सर्वांग आत्म-दर्शन कर लेता है।

रत्नत्रय की भाषा-शैली में इस प्रकार भी कहा जा सकता है, 'आत्मा को जानना—देखना सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन और आत्मा में रमण करना सम्यक् चारित्र है।

उपदेश-कौशल

१०२. जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति।
जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति।
अवि य हणे अणातियमाणे। एत्थं पि जाण सेयं ति णत्थि।
केऽयं पुरिसे कं च णए।

---

१. श्रु० १ अ० ८ गा० ११।
२. श्रु० १ अ० २ उ० १ गा० २१।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १३११।
४. कम्मं च जाई मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाई मरणं वयन्ति—३२।७

१०३. एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए,
उड्ढं अहं तिरियं दिसासु,
से सव्वतो सव्वपरिण्णाचारी ण लिप्पति छणपदेण वीरे।

१०४. से मेधावी जे अणुग्घातणस्स[1] खेत्तण्णे जे य बंधपमोक्खमण्णेसी।
कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के।
से जं च आरंभे, जं च णारभे, अणारद्धं च ण आरभे।
छणं छणं परिण्णाय लोगसण्णं च सव्वसो।

१०२. (आत्मदर्शी) साधक जैसे पुण्यवान (सम्पन्न) व्यक्ति को धर्म-उपदेश करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न-दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है और जैसे तुच्छ को धर्मोपदेश करता है, वैसे ही पुण्यवान को भी धर्मोपदेश करता है।

कभी (धर्मोपदेश-काल में किसी व्यक्ति या सिद्धान्त का) अनादर होने पर वह (श्रोता) उसको (धर्मकथी को) मारने भी लग जाता है। अतः यहाँ यह भी जानें (उपदेश की उपयुक्त विधि जाने बिना) धर्म कथा करना श्रेय नहीं है।

पहले धर्मोपदेशक को यह जान लेना चाहिए कि यह पुरुष (श्रोता) कौन है? किस देवता को (किस सिद्धान्त को) मानता है।

१०३. वह वीर प्रशंसा के योग्य है, जो (समीचीन धर्म कथन करके) बद्ध मनुष्यों को मुक्त करता है।

वह (कुशल साधक) ऊँची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशाओं में, सब प्रकार से समग्र परिज्ञा/विवेकज्ञान के साथ चलता है। वह हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता।

१०४. वह मेधावी है, जो अनुद्घात—अहिंसा का समग्र स्वरूप जानता है, तथा जो कर्मों के बंधन से मुक्त होने की अन्वेषणा करता है।

कुशल पुरुष न बंधे हुए हैं और न मुक्त हैं। उन कुशल साधकों ने जिसका आचरण किया है और जिसका आचरण नहीं किया है (वह जानकर, श्रमण) उनके द्वारा अनाचरित प्रवृत्ति का आचरण न करे।

हिंसा और हिंसा के कारणों को जानकर उनका त्याग करदे। लोक-संज्ञा को भी सर्व प्रकार से जाने और छोड़ दे।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों में धर्म-कथन करने की कुशलता का वर्णन है। तत्त्वज्ञ उपदेशक

---

१. (क) 'अणुग्घायणस्स खेयण्णे' 'अणुग्घातण खेतण्णे'—पाठान्तर है।
(ख) टीकाकार ने 'अण' का अर्थ कर्म तथा 'उद्घातन' का 'क्षय करना' अर्थ करके 'अणोद्घातन खेदज्ञ' का कर्म क्षय करने के मार्ग या रहस्य का ज्ञाता' अर्थ किया है। —टीका पत्र १३३

धर्म के तत्त्व को निर्भय होकर समभाव पूर्वक उपदेश करता है। सामने उपस्थित श्रोता समूह (परिषद्) में चाहे कोई पुण्यवान- धन आदि से सम्पन्न है, चाहे कोई गरीब, सामान्य स्थिति का व्यक्ति है। साधक धर्म का मर्म समझाने में उनमें कोई भेदभाव नहीं करता। वह निर्भय, निस्पृह और यथार्थवादी होकर दोनों को समानरूप से धर्म का उपदेश देता है।

पुण्णस्स—शब्द का 'पूर्णस्य' अर्थ भी किया जाता है। पूर्ण की व्याख्या टीका में इस प्रकार की है—

> ज्ञानैश्वर्य धनोपेतो जात्यन्वयबलान्वित ।
> तेजस्वी मतिमान ख्यात पूर्णस्तुच्छोऽन्यथा ॥

—जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिए।

सूत्र के प्रथम चरण में वक्ता की निस्पृहता तथा समभावना का निदर्शन है, किन्तु उत्तर चरण में बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा बताई गई है। वक्ता समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिए। उसे श्रोता की योग्यता, उसकी विचारधारा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से—समय को पहचाने, क्षेत्र से—इस नगर में किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से—परिस्थिति को परखे, तथा भाव से—श्रोता के विचारों व मान्यताओं का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करे।

इस प्रकार का कुशल पर्यवेक्षण किये बिना ही अगर वक्ता धर्म-कथन करने लगता है तो कभी संभव है, अपने सप्रदाय या मान्यताओं का अपमान समझकर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने-पीटने लगे। और इस प्रकार धर्म-वृद्धि के स्थान पर क्लेश-वृद्धि का प्रसग आ जाये। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है कि इस प्रकार उपदेश कुशलता प्राप्त किये बिना उपदेश न देना ही श्रेय है। अविधि या अकुशलता से कोई भी कार्य करना उचित नहीं, उससे तो न करना अच्छा है।

टीकाकार ने चार प्रकार की कथाओं का निर्देश करके बताया है कि बहुश्रुत वक्ता—आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेदनी और निर्वेदनी—चारों प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) वक्ता सिर्फ संवेदनी (मोक्ष की अभिलाषा जागृत करने वाली) तथा निर्वेदनी (वैराग्य प्रधान) कथा ही करें। वह आक्षेपणी (स्व-सिद्धान्त का मण्डन करने वाली) तथा विक्षेपणी (पर-सिद्धान्त का निराकरण-निरसन करने वाली) कथा न करें। अल्पश्रुत के लिए प्रारंभ की दो कथाएं श्रेयस्कर नहीं है।

सूत्र १०४ में कुशल धर्म कथक को विशेष निदेश दिये गये है। वह अपनी कुशल धर्म-कथा के द्वारा विषय-आसक्ति में बद्ध अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। वास्तव में बंधन से मुक्त होना तो आत्मा के अपने ही पुरुषार्थ से संभव है[1] किन्तु धर्म-कथक उसमें प्रेरक बनता है, इसलिए उसे एक नय से बन्ध-मोचक कहा जाता है।

---

१. बंधप्पमोक्खोतुज्झ अज्झत्थमेव—आचारांग—सूत्र १५५

अणुग्घातणस्स खेयण्णे—इस पद के दो अर्थ हो सकते हैं। टीकाकार ने—'कर्म प्रकृति के मूल एवं उत्तर भेदों को जानकर उन्हें क्षीण करने का उपाय जानने वाला' यह अर्थ किया है।[1]

उद्घात-घात ये हिंसा के पर्यायवाची नाम हैं। अतः 'अन+उद्+घात' अनुद्घात का अर्थ अहिंसा व संयम भी होता है। साधक अहिंसा व संयम के रहस्यों को सम्यक् प्रकार से जानता है, अतः वह भी अनुद्घात का खेदज्ञ कहलाता है।

बंधप्पमोक्खमण्णेसी—इस पद का पिछले पद से सम्बन्ध करते हुए कहा गया है—जो कर्मों का सम्यक् स्वरूप या अहिंसा का सम्यक् रहस्य जानता है, वह बंधन से मुक्त होने के उपायों का अन्वेषण/आचरण भी करता है। इस प्रकार ये दोनों पद ज्ञान-क्रिया की समन्विति के सूचक हैं।

कुसले पुण णो बद्धे—यह वाक्य भी रहस्यात्मक है। टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—धर्म का ज्ञान व मुक्ति की खोज—ये दोनों आचरण छद्मस्थ साधक के हैं। जो केवली हो चुके हैं, वे तो चार घातिकर्मों का क्षय कर चुके हैं, उनके लिए यह पद है। वे कुशल (केवली) चार कर्मों का क्षय कर चुके हैं अतः वे न तो सर्वथा बद्ध कहे जा सकते हैं और न सर्वथा मुक्त, क्योंकि उनके चार 'भवोपग्राही कर्म' शेष हैं।[2]

'कुशल' शब्द आगमों में अनेक स्थानों पर अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। कहीं तत्त्वज्ञ[3] को कुशल कहा है, कहीं आश्रवादि के हेय-उपादेय स्वरूप के जानकार को।[4] सूत्रकृतांग वृत्ति के अनुसार 'कुश' अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, कर्म का छेदन करने वाले 'कुशल' कहलाते हैं।[5] कहीं पर 'कुशल' शब्द तीर्थंकर भगवान महावीर का विशेषण है।

जैन, ज्ञानी, धर्म-कथा करने में दक्ष, इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, विभिन्न सिद्धान्तों का पारगामी, परीषह-जयी, तथा देश-काल का ज्ञाता मुनि कुशल कहा जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में 'कुशल' शब्द 'केवली' के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

छणं-छणं—यह शब्द दो बार आने का प्रयोजन यह है कि हिंसा को, तथा हिंसा के कारणों को, तथा मोह-संज्ञा को सम्यक् रूप से जानकर उसका त्याग करे।[7]

१०५. उद्देसो पासगस्स णत्थि।

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि।

॥ छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

---

1. आचा० शीला० टीका पत्रांक ११६
2. आयुष्य, वेदनीय, नाम, गोत्र—ये चार भवोपग्राही कर्म हैं।
3. आचा० शीला० टीका पत्रांक ११६
4. आचा० १।२।२
5. भगवती श० २ उ० ५
6. सूत्रकृत १।६
7. आचा० टीका पत्रांक ११८

धर्म के तत्त्व को निर्भय होकर समभावपूर्वक [illegible] करता है। [illegible] मजदूर (दरिद्र) से न तो कोई प्रत्याशा [illegible] और न [illegible] कोई [illegible]। [illegible] स्थिति का द्योतक है। [illegible] कोई [illegible] नहीं करता। वह निर्भय, निस्पृह और समदर्शी होकर दाता को [illegible] का [illegible] देता है।

पुण्णस्स—शब्द का 'पूर्ण' अर्थ भी किया जाता है। पूर्ण की व्याख्या टीका में इस प्रकार की है—

ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो   जात्यन्वयबलान्वितः ।
तेजस्वी मतिमान् ख्यातः   पूर्णस्तुच्छोविपर्ययात् ॥

—जो ज्ञान, प्रभुता, धन, जाति और बल से सम्पन्न हो, तेजस्वी हो, बुद्धिमान् हो, प्रख्यात हो, उसे 'पूर्ण' कहा गया है। इसके विपरीत तुच्छ समझना चाहिए।

सूत्र के प्रथम चरण में वक्ता की निस्पृहता तथा समभावना का निर्देश है, किन्तु उत्तर चरण में बौद्धिक कुशलता की अपेक्षा बताई गई है। वक्ता समयज्ञ और श्रोता के मानस को समझने वाला होना चाहिए। उस श्रोता की योग्यता, उसकी विचारधारा, उसका सिद्धान्त तथा समय की उपयुक्तता को समझना बहुत आवश्यक है। वह द्रव्य से—श्रोता की पहचान, क्षेत्र से—इस नगर में किस धर्म सम्प्रदाय का प्रभाव है, यह जाने। काल से—परिस्थिति को परखे, तथा भाव से—श्रोता के विचारों व मान्यताओं का सूक्ष्म परीक्षण करे।

इस प्रकार का कुशल पर्यवेक्षण किये बिना ही अगर वक्ता धर्म-कथन करने लगता है तो कभी संभव है, अपने संप्रदाय या मान्यताओं का अपमान समझकर श्रोता उलटा वक्ता को ही मारने-पीटने लगे। और इस प्रकार धर्म-वृद्धि के स्थान पर क्लेश-वृद्धि का प्रसंग आ जाये। शास्त्रकार ने इसीलिए कहा है कि इस प्रकार उपदेश कुशलता प्राप्त किये बिना उपदेश न देना ही श्रेय है। अविधि या अकुशलता से कोई भी कार्य करना उचित नहीं, उसे तो न करना अच्छा है।

टीकाकार ने चार प्रकार की कथाओं का निर्देश करके बताया है कि बहुश्रुत वक्ता—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी—चारों प्रकार की कथा कर सकता है। अल्पश्रुत (अल्पज्ञानी) वक्ता सिर्फ संवेदनी (मोक्ष की अभिलाषा जागृत करने वाली) तथा निर्वेदनी (वैराग्य प्रधान) कथा ही करें। वह आक्षेपणी (स्व-सिद्धान्त का मण्डन करने वाली) तथा विक्षेपणी (पर-सिद्धान्त का निराकरण-निरसन करने वाली) कथा न करें। अल्पश्रुत के लिए प्रारंभ की दो कथाएं श्रेयस्कर नहीं है।

सूत्र १०४ में कुशल धर्म कथक को विशेष निर्देश दिये गये है। वह अपनी कुशल धर्म-कथा के द्वारा विषय-आसक्ति में बद्ध अनेक मनुष्यों को प्रतिबोध देकर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर कर देता है। वास्तव में बंधन से मुक्त होना तो आत्मा के अपने ही पुरुषार्थ से संभव है[1] किन्तु धर्म-कथक उसमें प्रेरक बनता है, इसलिए उसे एक नय से बन्ध-मोचक कहा जाता है।

---

१. बंधप्पमोक्खोतुज्झ अज्झत्थमेव—आचारांग—सूत्र १५५

शीतोष्णीय—तृतीय अध्ययन

प्राथमिक

- ✡ आचारांग सूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है।
- ✡ शीतोष्णीय का अर्थ है—शीत (अनुकूल) और उष्ण (प्रतिकूल) परिषह आदि को समभावपूर्वक सहन करने से सम्बन्धित।
- ✡ श्रमणचर्या में बताये गये बाईस परिषहों में दो परिषह 'शीत-परिषह' हैं, जैसे 'स्त्री-परिषह, सत्कार-परिषह। अन्य बीस 'उष्ण-परिषह' माने गये हैं।[1]
- ✡ शीत से यहाँ 'भावशीत' अर्थ ग्रहण किया गया है; जो कि जीव का परिणाम या चिन्तन विशेष है। यहाँ चार प्रकार के भावशीत बताये गये हैं[2]—(१) मन्दपरिणामात्मक परिषह, (२) प्रमाद (कार्य-शैथिल्य या शीतल-विहारता) का उपशम, (३) विरति (प्राणातिपात आदि से निवृत्ति, सत्रह प्रकार का संयम) और (४) सुख (सातावेदनीय कर्मोदयजनित)।
- ✡ उष्ण से भी यहाँ 'भाव-उष्ण' का ग्रहण किया गया है, वह भी जीव का परिणाम/चिन्तन विशेष है। निर्युक्तिकार ने भाव-उष्ण ८ प्रकार के बताये हैं[3]—(१) तीव्र-दुःसह परिणामात्मक प्रतिकूल परिषह, (२) तपस्या में उद्यम, (३) क्रोधादि कषाय, (४) शोक, (५) आधि (मानसिक व्यथा), (६) वेद (स्त्री-पुरुष-नपुंसक रूप), (७) अरति (मोहोदय-वश चित्त का विक्षेप) और (८) दुःख (असातावेदनीय कर्मोदयजनित)।
- ✡ शीतोष्णीय अध्ययन का सार है—मुमुक्षु साधक को भावशीत और भाव-उष्ण, दोनों को ही समभावपूर्वक सहन करना चाहिए, सुख में प्रसन्न और दुःख में खिन्न नहीं होना चाहिए अर्थात् अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में समभाव रखना चाहिए।
- ✡ इन्हीं भाव-शीत और भाव-उष्ण के परिप्रेक्ष्य में इस अध्ययन के चार उद्देशकों में वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. आचा० नि० गाथा २०१।

२. 'सीयं परीसहपमायुवसम विरई-सुहं तु घउण्हं।' —आ० निर्यु० गा० २०२

३. 'परीसहतवुज्जय कसाय सोगाहिवेयारइ-दुक्ख।' —आ० निर्यु० गा० २०२

१०५. द्रष्टा के लिए (सत्य का सम्पूर्ण दर्शन करने वाले के लिए) कोई उद्देश—(विधि-निषेध रूप विधान/निर्देश) (अथवा उपदेश) नहीं है।

बाल—(अज्ञानी)। बार-बार विषयों में स्नेह (आसक्ति) करता है। काम-इच्छा और विषयों को मनोज्ञ समझकर (उनका सेवन करता है) इसलिए वह दुःखों का शमन नहीं कर पाता। वह शारीरिक एवं मानसिक[1] दुःखों से दुःखी बना हुआ दुःखों के चक्र[2] में ही परिभ्रमण करता रहता है।

—ऐसा मैं कहता हूं।

॥ षष्ठ उद्देशक समाप्त ॥

॥ लोकविजय द्वितीय अध्ययन समाप्त ॥

---

१. विषयों की तीव्र आसक्ति के कारण मानसिक उद्वेग, चिंता, व्याकुलता रहती है तथा विष[य] अत्यधिक सेवन से शारीरिक दुःख—रोग, पीड़ा आदि उत्पन्न होते हैं।

२. चूर्णि में पाठ इस प्रकार है—दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति—दुक्खाण आवट्टो दुक्खावट्टो—(मुनि जम्बूविजयजी, टिप्पण पृ० ३०)

'सीओसणिज्जं' तइअं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

शीतोष्णीय: तृतीय अध्ययन : प्रथम उद्देशक

<u>सुप्त-जाग्रत</u>

१०६. सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति ।
लोगंसि जाण अहियाय दुक्खं ।
समयं लोगस्स जाणित्ता एत्थ सत्थोवरते ।

१०६. अमुनि (अज्ञानी) सदा सोये हुए हैं, मुनि (ज्ञानी) सदैव जागते रहते हैं।

इस बात को जान लो कि लोक में अज्ञान (दु:ख) अहित के लिए होता है।

लोक (षड्जीव-निकायरूप संसार) में इस आचार (समत्वभाव) को जानकर (संयमी पुरुष) (संयम में बाधक—हिंसा, अज्ञानादि) जो शस्त्र हैं, उनसे उपरत रहे।

विवेचन—यहाँ 'मुनि' शब्द सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि एवं मोक्ष-मार्ग-साधक के अर्थ में प्रयुक्त है। जिन्होंने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग रूप भाव-निद्रा का त्याग कर दिया है, जो सम्यक्बोध प्राप्त है और मोक्ष-मार्ग से स्खलित नहीं होते, वे मुनि हैं। इसके विपरीत जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि से ग्रस्त हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, वे 'अमुनि'—अज्ञानी हैं। यहाँ भाव-निद्रा की प्रधानता से अज्ञानी को सुप्त और ज्ञानी को जागृत कहा गया है।

सुप्त दो प्रकार के हैं—द्रव्यसुप्त और भावसुप्त। निद्रा-प्रमादवान् द्रव्यसुप्त है। जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि रूप महानिद्रा से व्यामोहित हैं, वे भावसुप्त हैं। अर्थात् जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बिलकुल शून्य, मिथ्यादृष्टि, असंयमी और अज्ञानी हैं, वे जागते हुए भी भाव से—आन्तरिक दृष्टि से सुप्त हैं। जो कुछ सुप्त हैं, कुछ जागृत हैं, संयम के मध्यबिन्दु में हैं, वे देशविरत श्रावक सुप्त-जागृत हैं और जो पूर्ण रूप से जागृत हैं उत्कृष्ट संयमी और ज्ञानी हैं, वे जागृत हैं।

वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था पर मनन करता है या उन्हें जानता है, वह मुनि है।[1] जो जगत की त्रैकालिक गति-

---

१. 'मन्यते मनुते वा जगतः त्रिकालावस्थां मुनिः ।' —आचा० शीला० टीका पत्रांक ११७

- प्रथम उद्देशक में धर्मदृष्टि से जागृत और सुप्त की चर्चा की है। विशेषतः अप्रमाद और प्रमाद का, अनासक्ति और आसक्ति का विवेक बताया गया है।
- द्वितीय उद्देशक में सुख-दुःख के कारणों का तत्त्वबोध निरूपित किया है।
- तृतीय उद्देशक में साधक का कर्तव्यबोध निर्दिष्ट है।
- चौथे उद्देशक में कषायादि से विरति का उल्लेख है।
- इस प्रकार चारों उद्देशकों में आत्मा के परिणामों में होने वाली भाव-शीतलता और भाव-उष्णता को लेकर विविध विषयों की चर्चा की गई है।[1]
- निष्कर्ष यह है कि तृतीय अध्ययन के चार उद्देशकों एवं छब्बीस सूत्रों में सहिष्णुता और अप्रमत्तता का स्वर गूंज रहा है।
- सूत्र संख्या १०६ से प्रारंभ होकर सूत्र १३१ पर तृतीय अध्ययन समाप्त होता है।

अरति-रति-त्याग

१०७. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागता भवंति[1] से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परिजाणति लोगं, मुणी ति वच्चे धम्मविदु त्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणति।

सीतोसिणच्चागी से णिग्गथे अरति-रतिसहे फारुसियं णो वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे! एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१०७. जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक्प्रकार से परिज्ञात कर लिया है, (जो उनमे राग-द्वेष न करता हो), वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान् (आचारांग आदि आगमो का ज्ञाता), धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा (विवेक) से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मवेत्ता और ऋजु (सरल) होता है।

(वह आत्मवान् मुनि) संग (आसक्ति) को आवर्त-स्रोत (जन्म-मरणादि चक्र के स्रोत—उद्गम) के रूप में बहुत निकट से जान लेता है।

वह निर्ग्रन्थ शीत और उष्ण (सुख और दुःख) का त्यागी (इनकी लालसा) से मुक्त होता है तथा वह अरति और रति को सहन करता है (उन्हे त्यागने में पीड़ा अनुभव नही करता) तथा स्पर्शजन्य सुख-दुःख का वेदन (आसक्तिपूर्वक अनुभव) नही करता।

जागृत (सावधान) और वैर से उपरत वीर! तू इस प्रकार (ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागरूकता और समता-प्रयोग द्वारा) दुःखो—दुःखों के कारण कर्मों से मुक्ति पा जाएगा।

विवेचन—इस सूत्र में पंचेन्द्रिय-विषयों के यथावस्थित स्वरूप के ज्ञाता तथा उनके त्यागी को ही मुनि, निर्ग्रन्थ एवं वीर बताया गया है।

अभिसमन्वागत का अर्थ है—जो विषयो के इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप को—स्वरूप को, उनके उपभोग के दुष्परिणामो को आगे-पीछे से, निकट और दूर से ज्ञ-परिज्ञा से भलीभाँति जानता है तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करता है।

आत्मवान् का अर्थ है—ज्ञानादिमान् अथवा शब्दादि विषयो का परित्याग करके आत्मा की रक्षा करने वाला।

ज्ञानवान् का अर्थ है—जो जीवादि पदार्थों का यथावस्थित ज्ञान कर लेता है।

वेदवान् का अर्थ है—जीवादि का स्वरूप जिनसे जाना जा सके, उन वेदों—आचाराग आदि आगमों का ज्ञाता।

---

१. यहाँ पाठान्तर मे 'आयवी', 'नाणवी', 'वेयवी', 'धम्मवी', 'बम्भवी', मिलता है जिसका अर्थ होता है—वह आत्मविद्, ज्ञानवित्, आचारादिक आगमो का वेत्ता (वेदवित्), धर्मवित् और ब्रह्म (१८ प्रकार के ब्रह्मचर्य) का वेत्ता होता है।

विधियों को जानता है, वही लोकाचार या जगत के भोगाभिलाषी स्वभाव को अथवा 'विश्व की समस्त आत्मा एक समान हैं'—इस समत्व-सूत्र को जानकर, हिंसा, मिथ्यात्व अज्ञानादि शस्त्रों से दूर रहता है।

यहाँ 'सुप्त' शब्द भावसुप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। भावसुप्त वह होता है, जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद आदि के कारण हिंसादि में सदा प्रवृत्त रहता है।

जो दीर्घ संयम के आधारभूत शरीर को टिकाने के लिए आचार्य-गुरु आदि की आज्ञा से द्रव्य से सोते, निद्राधीन होते हुए भी आत्म-स्वरूप में जागृत रहते हैं, वे धर्म की दृष्टि से जागृत हैं। अथवा भाव से जागृत साधक, निद्रा-प्रमादवश सुषुप्त होते हुए भी भावसुप्त नहीं कहलाता। यहाँ भावसुप्त एवं भावजागृत—दोनों अवस्थाएं धर्म की अपेक्षा से कही गयी हैं।[1]

अज्ञान दुःख का कारण है, इसलिए यहाँ 'अज्ञान' के स्थान पर 'दुःख' शब्द का प्रयोग किया गया है। चूर्णिकार ने दुःख का अर्थ 'कर्म' किया है। उन्होंने बताया है कि कर्म दुःख का कारण है। अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म आदि से सम्बन्धित भी है, इसलिए प्रसंगवश दुःख का अर्थ यहाँ अज्ञान भी किया जा सकता है।

'समय' शब्द[2] यहाँ प्रसंगवश दो अर्थों को अभिव्यक्त करता है—आचार और समता। लोक प्रचलित आचार या रीति-रिवाज साधक को जानना आवश्यक है। संसार के प्राणी भोगाभिलाषी होने के कारण प्राणि-विघातक एवं कषायहेतुक लोकाचार के कारण अनेक कर्मों का संचय करके नरकादि यातना-स्थानों में उत्पन्न होते है। कदाचित् कर्मफल भोगने के बाद वे धर्म प्राप्ति के कारण मनुष्य-जन्म, आर्य-क्षेत्र आदि में पैदा होते है, लेकिन फिर महामोह, अज्ञानादि अन्धकार के वश अशुभकर्म का उपार्जन करके अधोगतियों में जाते है। संसार के जन्म-मरण के चक्र से नहीं निकल पाते। यह है—लोकाचार। इस लोकाचार (समय) को जानकर हिंसा से उपरत होना चाहिए।

इसी प्रकार लोक (समस्त जीव समूह) मे शत्रु-मित्रादि के प्रति अथवा समस्त आत्माओ के प्रति समता (समभाव—आत्मौपम्य दृष्टि) जान कर हिंसा आदि शस्त्रो से विरत होना चाहिए।

---

१. भगवती सूत्र मे जयन्ती श्राविका और भगवान् महावीर का सुप्त और जागृत के विषय में एक संवाद आता है। जयन्ती श्राविका प्रभु से पूछती है—"भंते ! सुप्त अच्छे या जागृत ?"
भगवान् ने धर्मदृष्टि से अनेकान्तशैली मे उत्तर दिया—"जो धर्मिष्ठ हैं, उनका जागृत रहना श्रेयस्कर है और जो अधर्मिष्ठ हैं, पापी है, उनका सुप्त (सोये) रहना अच्छा।"
यहाँ सुप्त और जागृत द्रव्यदृष्टि से है, भावदृष्टि से नहीं। —शतक १२। उ० २

२. देखिये समय' शब्द के विभिन्न अर्थ अमरकोष मे—

"समयाः शपथाचारकाल-सिद्धान्त संविदः"

समय के अर्थ है—शपथ, आचार, काल, सिद्धान्त और संविद् (प्रतिज्ञा या शर्त)।

अरति-रति-त्याग

१०७. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमण्णागता भवंति[1] से आतवं णाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं पण्णाणेहिं परिजाणति लोगं, मुणी ति वच्चे धम्मविदु त्ति अंजू आवट्टसोए संगमभिजाणति ।

सीतोसिणच्चागी से णिग्गंथे अरति-रतिसहे फारुसियं णो वेदेति, जागर-वेरोवरते वीरे ! एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

१०७. जिस पुरुष ने शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श को सम्यक्प्रकार से परिज्ञात कर लिया है, (जो उनमें राग-द्वेष न करता हो), वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान् (आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता), धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है। जो पुरुष अपनी प्रज्ञा (विवेक) से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है। वह धर्मवेत्ता और ऋजु (सरल) होता है।

(वह आत्मवान् मुनि) संग (आसक्ति) को आवर्त-स्रोत (जन्म-मरणादि चक्र के स्रोत—उद्गम) के रूप में बहुत निकट से जान लेता है।

वह निर्ग्रन्थ शीत और उष्ण (सुख और दुःख) का त्यागी (इनकी लालसा) से मुक्त होता है तथा वह अरति और रति को सहन करता है (उन्हें त्यागने में पीड़ा अनुभव नहीं करता) तथा स्पर्शजन्य सुख-दुःख का वेदन (आसक्तिपूर्वक अनुभव) नहीं करता।

जागृत (सावधान) और वैर से उपरत वीर ! तू इस प्रकार (ज्ञान, अनासक्ति, सहिष्णुता, जागरूकता और समता-प्रयोग द्वारा) दुःखों—दुःखों के कारण कर्मों से मुक्ति पा जाएगा।

विवेचन—इस सूत्र में पंचेन्द्रिय-विषयों के यथावस्थित स्वरूप के ज्ञाता तथा उनके त्यागी को ही मुनि, निर्ग्रन्थ एवं वीर बताया गया है।

अभिसमन्वागत का अर्थ है—जो विषयों के इष्ट-अनिष्ट, मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप को—स्वरूप को, उनके उपभोग के दुष्परिणामों को आगे-पीछे से, निकट और दूर से ज्ञ-परिज्ञा से भलीभाँति जानता है तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से उनका त्याग करता है।

आत्मवान् का अर्थ है—ज्ञानादिमान् अथवा शब्दादि विषयों का परित्याग करके आत्मा की रक्षा करने वाला।

ज्ञानवान् का अर्थ है—जो जीवादि पदार्थों का यथावस्थित ज्ञान कर लेता है।

वेदवान् का अर्थ है—जीवादि का स्वरूप जिनसे जाना जा सके, उन वेदों—आचारांग आदि आगमों का ज्ञाता।

---

१. यहाँ पाठान्तर में 'आयवी', 'नाणवी', 'वेयवी', 'धम्मवी', 'बंभवी', मिलता है जिसका अर्थ होता है—वह आत्मविद्, ज्ञानवित्, आचारादिक आगमों का वेत्ता (वेदवित्), धर्मवित् और ब्रह्म (१८ प्रकार के ब्रह्मचर्य) का वेत्ता होता है।

धर्मवित् वह है—जो श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अथवा आत्मा को [illegible] आत्मा के स्वभाव (धर्म) का ज्ञाता है।[1]

ब्रह्मवित् का अर्थ है—जो अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य को जानता है।[2]

इस सूत्र का आशय यह है कि जो पुरुष शब्दादि विषयों को भलीभाँति जान लेता है, उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवित्, ज्ञानवित्, वेदवित्, धर्मवित् एवं ब्रह्मवित् होता है।

वस्तुतः शब्दादि विषयों की आसक्ति, आत्मा की अनुपलब्धि अर्थात् आत्म-स्वरूप के बोध के अभाव में होती है। जो इन पर आसक्ति नहीं रखता, वही आत्मा को भलीभाँति उपलब्ध कर लेता है। जो आत्मा को उपलब्ध कर लेता है, उसे ज्ञान-आगम, धर्म और ब्रह्म (आत्मा) का ज्ञान हो जाता है।

'जो प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है', इस वाक्य का तात्पर्य है, जो साधक मति-श्रुतज्ञानजनित सद्-असद् विवेकशालिनी बुद्धि से प्राणिलोक या प्राणियों के आधारभूत लोक (क्षेत्र) को सम्यक् प्रकार से जानता है, वह मुनि कहलाता है। वृत्तिकार ने मुनि का निर्वचन इस प्रकार किया है—'जो जगत् की त्रिकालावस्था-गतिविधि का मनन करता है, जानता है, वह मुनि है'। 'ज्ञानी' के अर्थ में यहाँ 'मुनि' शब्द का प्रयोग हुआ है।[3]

ऋजु का अर्थ है—जो पदार्थों का यथार्थस्वरूप जानने के कारण सरलात्मा है, समस्त उपाधियों से या कपट से रहित होने से सरल गति—सरल मति है।

आवर्त स्रोत का आशय है—जो भाव-आवर्त्त का स्रोत—उद्गम है। जन्म-जरा-मृत्यु-रोग शोकादि दुःखरूप संसार को यहाँ भाव-आवर्त (भवरजाल) कहा गया है।[4] इसका उद्गम स्थल है—विषयासक्ति।

---

१. 'धर्मवित्' का व्युत्पत्त्यर्थ देखिए—'धर्मं चेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूपं वा वेत्तीति धर्मवित्'—
"जो धर्म को—चेतन-अचेतन द्रव्य के स्वभाव को या श्रुत-चारित्ररूप धर्म को—जानता है, वह धर्मवित् है।"
—आचा० टीका० पत्रांक १३६

२. (क) समवायांग १८।
(ख) दिव्वा कामरइसुहा तिविहं तिविहेण नवविहा विरई।
ओरालिया उ वि तहा तं बंभ अट्ठदसभेयं ॥
अर्थात्—देव-सम्बन्धी भोगों का मन, वचन और काया से सेवन न करना, दूसरों से न कराना तथा करते हुए को भला न जानना, इस प्रकार नौ भेद हो जाते हैं। औदारिक अर्थात् मनुष्य, तिर्यञ्च सम्बन्धी भोगों के लिए भी इसी प्रकार नौ भेद हैं। कुल मिलाकर अठारह भेद हो जाते हैं।
—(प्रवचन सारोद्धार, द्वार १६८ गाथा १०६१)

३. देखें टिप्पण पृ० ८५ पर

४. रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम्।
जन्मावर्ते जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥
अर्थात्—राग-द्वेष की प्रचण्ड तरंगों से घिरा हुआ, मिथ्यादर्शन के कारण दुस्तर यह जगत जन्म-मरणादि रूप आवर्त—भवरजाल में पड़ा है। प्रमाद उसे अत्यन्त परिभ्रमण कराता है।
—आचा० टीका पत्रांक १४०

'सग'-विषयों के प्रति राग-द्वेष रूप सम्बन्ध, लगाव या आसक्ति।

शीतोष्ण-त्यागी का मतलब है—जो साधक शीत-परिषह और उष्ण-परिषह अथवा अनुकूल और प्रतिकूल परिषह को सहन करता हुआ उनमें निहित वैषयिक सुख और पीड़ा-जनक दु.ख की भावना का त्याग कर देता है। अर्थात् सुख-दु.ख की अनुभूति से चंचल नही होता है।

'अरति-रतिसहे' का तात्पर्य है—जो सयम और तप में होनेवाली अप्रीति और अरुचि को समभावपूर्वक सहता है—उन पर विजय प्राप्त करता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) से रहित निर्ग्रन्थ साधक है।

'फारुसियं णो वेदेति' का भाव है, वह निर्ग्रन्थ साधक परिषहों और उपसर्गों को सहने में जो कठोरता—कर्कशता या पीड़ा उत्पन्न होती है, वह उस पीड़ा को पीड़ा रूप में वेदन-अनुभव नही करता, क्योंकि वह मानता है कि मैं तो कर्मक्षय करने के लिए उद्यत हूं। मेरे कर्मक्षय करने में ये परिषह, उपसर्गादि सहायक हैं। वास्तव में अहिंसादि धर्म का आचरण करते समय कई कष्ट आते हैं, लेकिन अज्ञानीजन कष्ट का वेदन (Feeling) करता है, जबकि ज्ञानीजन कष्ट को तटस्थ भाव से जानता है परन्तु उसका वेदन नहीं करता।

'जागर' और 'वेरोवरत' ये दोनों 'वीर' के विशेषण हैं। जो साधक जागृत और वैर से उपरत है, वही वीर है—कर्मों को नष्ट करने में सक्षम है। वीर शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है। 'जागर' शब्द का आशय है—असंयम रूप भावनिद्रा का त्याग करके जागने वाला।

अप्रमत्तता

१०८. जरा-मच्चुवसोवणीते णरे सततं मूढे धम्मं णाभिजाणति।
पासिय 'आतुरे पाणे अप्पमत्तो परिव्वए।
मंता एयं मतिमं पास,
आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा,
मायी पमायी पुणरेति गब्भं।
उवेहमाणो सद्द-रूवेसु अंजू माराभिसंकी मरणा पमुच्चति।

१०९. अप्पमत्तो कामेहिं, उवरतो पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयण्णे। जे पज्जवजात-सत्थस्स खेतण्णे से असत्थस्स खेतण्णे। जे असत्थस्स खेतण्णे से पज्जवजातसत्थस्स खेतण्णे।

१०८. बुढ़ापे और मृत्यु के वश में पड़ा हुआ मनुष्य (शरीरादि के मोह से) सतत मूढ़ बना रहता है। वह धर्म को नही जान पाता।

(सुप्त) मनुष्यों को शारीरिक-मानसिक दु.खों से आतुर देखकर साधक सतत अप्रमत्त (जागृत) होकर विचरण करे।

हे मतिमान्! तू मननपूर्वक इन (भावसुप्त आतुरों-दुखियो) को देख।

---

१. पाठान्तर है—आतुरिए पाणे, आतुरपाणे।

यह दुःख आरम्भज—प्राणि-हिंसाजनित है, यह जानकर (तू निरारम्भ होकर अप्रमत्त भाव से आत्महित में प्रवृत्त रह)।

माया और प्रमाद के वश हुआ मनुष्य (अथवा मायी प्रमादवश) बार-बार जन्म लेता है—गर्भ में आता है।

शब्द और रूप आदि के प्रति जो उपेक्षा करता है—राग-द्वेष नहीं करता है, वह ऋजु (आर्जव-धर्मशील संयमी) होता है, वह मार (मृत्यु या काम) के प्रति सदा आशंकित (सतर्क) रहता है और मृत्यु (मृत्यु के भय) से मुक्त हो जाता है।

१०६. जो काम-भोगों के प्रति अप्रमत्त है, पाप कर्मों से उपरत—मन-वचन-काया से विरत है, वह पुरुष वीर और आत्मगुप्त (आत्मा को सुरक्षित रखने वाला) होता है और जो (अपने आप में सुरक्षित होता है) वह, खेदज्ञ (इन काम-भोगों से प्राणियों को तथा स्वयं को होने वाले खेद का ज्ञाता) होता है, अथवा वह क्षेत्रज्ञ (अन्तरात्मा को जानने वाला) होता है।

जो (शब्दादि विषयों की) विभिन्न पर्यायसमूह के निमित्त से होने वाले शस्त्र (असंयम, आसक्ति रूप) के खेद (अन्तस्-हार्द) को जानता है, वह अशस्त्र (संयम—अनासक्ति रूप) के खेद (अन्तस्) को जानता है, वह (विषयों के विभिन्न) पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) के खेद (अन्तस्) को जानता है।

विवेचन—इन सूत्रों में साधक को वृद्धत्व, मृत्यु आदि विभिन्न दुःखों से आतुर प्राणी की दशा एवं उसके कारणों और परिणामों पर गम्भीरता से विचार करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी बताया है कि शब्द-रूपादि कामों के प्रति अनासक्त रहने वाला सरलात्मा मुनि मृत्यु के भय से विमुक्त हो जाता है।

यहाँ वृत्तिकार ने एक शंका उठाई है—देवता 'निर्जर' और 'अमर' कहलाते हैं, वे तो मोहमूढ़ नहीं होते होंगे और धर्म को भलीभाँति जान लेते होंगे? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि "देवता निर्जर कहलाते है, पर उनमें भी जरा का सद्भाव है, क्योंकि च्यवन-काल से पूर्व उनके भी लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, वर्ण आदि क्षीण होने लगते हैं। यह एक तरह से जरावस्था ही है। और मृत्यु तो देवों को भी होती है, शोक, भय आदि दुःख भी उनके पीछे लगे हैं। इसलिए देव भी मोह-मूढ़ बन रहते हैं।"[1] आशय यह है कि जहाँ शब्द-

---

१. जैसा कि भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर है—"देवाणं भंते! सव्वे समवण्णा?
णो इणट्ठे समट्ठे।
से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ?
गोयमा! देवा दुविहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य।
तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा, जे णं पच्छोववण्णगा, तेणं विसुद्धवण्णयरा।
प्रश्न—भंते! सभी देव समान वर्ण वाले होते हैं?
उत्तर—यह कथन सम्भव नहीं।

आदि काम-भोगों के प्रति राग-द्वेषात्मक वृत्ति है, वहाँ प्रमाद, मोह, माया, मृत्यु-भय आदि अवश्यम्भावी हैं।

'आउरपाणे' का तात्पर्य है—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के अथाह सागर में डूबे हुए, आतुर—किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए प्राणिगण।

'माई' शब्द चार कषायों में से मध्यम कषाय का वाचक है। इसलिए उपलक्षण से आदि और अन्त के क्रोध, मान और लोभ कषाय का भी इससे ग्रहण हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्तिकार माई का अर्थ कषायवान् करते हैं।

'पमाई' का अर्थ मद आदि पाँचों या आठों प्रमादों से युक्त समझना चाहिए।

'उवेहमाणो', 'अंजू' और 'मारामिसंकी' ये तीन विशेषण अप्रमत्त एवं जागृत साधक के हैं। ऋजु सरलात्मा होता है, वही संयम को कष्टकारक न समझकर आत्मविकास के लिए आवश्यक समझता है और वही मृत्यु के प्रति सावधान भी रहता है कि अचानक मृत्यु आकर उसे भयभीत न कर दे।

'मरणा पमुच्चति' का अर्थ है—मरण के भय से या दुःख से वह अप्रमत्त साधक मुक्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा के अमरत्व में उसकी दृढ़ आस्था होती है।

'अप्रमत्त' शब्द यहाँ भीतर में जागृत (चैतन्य की सतत स्मृति रखने वाला) और बाहर में (विषय-कषाय आदि आत्म-बाह्य पदार्थों के विषय में) मुक्त अर्थ में प्रयुक्त है।

सूत्र १०९ में शब्द-रूप आदि काम-भोगों से सावधान एवं जागृत रहने वाले तथा हिंसा आदि विभिन्न पाप कर्मों से विरत रहने वाले साधक को वीर, आत्मगुप्त और खेदज्ञ बताकर उसे शब्दादि कामों की विभिन्न पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) और उससे विपरीत अशस्त्र (संयम) का खेदज्ञ बताया गया है।

'खेयण्णे'—इसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं—खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ। यहाँ 'खेयन्ने' का 'क्षेत्रज्ञ' रूप अधिक संगत प्रतीत होता है, और क्षेत्र का अर्थ आत्मा या आकाश की अपेक्षा अन्तर् (हार्द) अर्थ प्रसंगानुसारी मालूम होता है।

शस्त्र और अशस्त्र से यहाँ असंयम और संयम अर्थ का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि असंयम—विभिन्न विषय भोगों में होने वाली आसक्तिरूप शस्त्र है, और संयम पापरहित अनुष्ठान होने से अशस्त्र है। निष्कर्ष यह है कि शस्त्र घातक होता है, अशस्त्र अघातक। जो

प्रश्न—भंते! किस कारण से ऐसा कहा जाता है?

उत्तर—'गौतम! देव दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चाद्-उपपन्नक। इनमें जो पूर्वोपपन्नक होते हैं, वे क्रमशः उत्तरोत्तर अविशुद्धतर वर्ण के होते हैं और जो पश्चाद्-उपपन्नक होते हैं, वे उत्तरोत्तर क्रमशः विशुद्धतर वर्ण के होते हैं। इसी प्रकार लेश्या आदि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। च्यवनकाल में सभी के निम्नलिखित बातें होती हैं—"माला का मुरझाना, कल्पवृक्ष का कम्पन, श्री और ह्री का नाश, वस्त्रों के उपराग का ह्रास, दैन्य, तन्द्रा, कामराग, अंगभंग, दृष्टिभ्रान्ति, कम्पन और अरति।

इसलिए देवों में भी जरा और मृत्यु का अस्तित्व है। —आचा० वृत्ति पत्रांक १४०

यह दुःख आरम्भज—जीव-हिंसा जनित है, यह जानकर (तू निरारम्भ होकर अप्रमत्त भाव से आत्महित में प्रवृत्त रह)।

माया और प्रमाद के वश हुआ मनुष्य (अपना भावी समाचरण) बार-बार जन्म लेता है—गर्भ में आता है।

शब्द और रूप आदि के प्रति जो उपेक्षा करता है—राग-द्वेष नहीं करता है, वह ऋजु (आर्जव-धर्मशील संयमी) होता है, वह मार (मृत्यु या काम) के प्रति सदा आशंकित (सतर्क) रहता है और मृत्यु (मृत्यु के भय) से मुक्त हो जाता है।

१०९. जो काम-भोगों के प्रति अप्रमत्त है, पाप कर्मों से उपरत—मन-वचन-काया से विरत है, वह पुरुष वीर और आत्मगुप्त (आत्मा को सुरक्षित रखने वाला) होता है और जो (अपने आप में सुरक्षित होता है) वह, खेदज्ञ (इन काम-भोगों से प्राणियों को तथा स्वयं को होने वाले खेद का ज्ञाता) होता है, अथवा वह क्षेत्रज्ञ (अन्तरात्मा को जानने वाला) होता है।

जो (शब्दादि विषयों की) विभिन्न पर्यायसमूह के निमित्त से होने वाले शस्त्र (असंयम, आसक्ति रूप) के खेद (अन्तस्-हार्द) को जानता है, वह अशस्त्र (संयम—अनासक्ति रूप) के खेद (अन्तस्) को जानता है, वह (विषयों के विभिन्न पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) के खेद (अन्तस्) को जानता है।

विवेचन—इन सूत्रों में साधक को वृद्धत्व, मृत्यु आदि विभिन्न दुःखों से आतुर प्राणी की दशा एवं उसके कारणों और परिणामों पर गम्भीरता से विचार करने का निर्देश दिया गया है। साथ ही यह भी बताया है कि शब्द-रूपादि कामों के प्रति अनासक्त रहने वाला सरलात्मा मुनि मृत्यु के भय से विमुक्त हो जाता है।

यहाँ वृत्तिकार ने एक शंका उठाई है—देवता 'निर्जर' और 'अमर' कहलाते हैं, वे तो मोहमूढ़ नहीं होते होंगे और धर्म को भलीभांति जान लेते होंगे? इसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि "देवता निर्जर कहलाते हैं, पर उनमें भी जरा का सद्भाव है, क्योंकि च्यवन-काल से पूर्व उनके भी लेश्या, बल, सुख, प्रभुत्व, वर्ण आदि क्षीण होने लगते हैं। यह एक तरह से जरावस्था ही है। और मृत्यु तो देवों की भी होती है, शोक, भय आदि दुःख भी उनके पीछे लगे हैं। इसलिए देव भी मोह-मूढ़ बन रहते हैं।"[१] आशय यह है कि जहाँ शब्द-

---

७. जैसा कि भगवती सूत्र में प्रश्नोत्तर है—"देवाणं भंते! सव्वे समवण्णा?
णो इणट्ठे समट्ठे।
से केणट्ठेणं भंते! एव वुच्चइ?
गोयमा! देवा दुविहा—पुव्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य।
तत्थ णं जे ते पुव्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा, जे ण पच्छोववण्णगा, तेण विसुद्धवण्णयरा।
प्रश्न—भंते! सभी देव समान वर्ण वाले होते हैं?
उत्तर—यह कथन सम्भव नहीं।

शब्दादि काम-भोगों के प्रति राग-द्वेषात्मक वृत्ति है, वहाँ प्रमाद, मोह, माया, मृत्यु-भय आदि अवश्यम्भावी हैं।

'आउरपाणे' का तात्पर्य है—शारीरिक एवं मानसिक दुःखों के अथाह सागर में डूबे हुए, आतुर—किंकर्तव्यविमूढ़ बने हुए प्राणिगण।

'मायी' शब्द चार कषायों में से मध्यम कषाय का वाचक है। इसलिए उपलक्षण से आदि और अन्त के क्रोध, मान और लोभ कषाय का भी इससे ग्रहण हो जाता है। इस दृष्टि से वृत्तिकार मायी का अर्थ कषायवान् करते हैं।

'प्रमादी' का अर्थ मद आदि पाँचों या आठों प्रमादों से युक्त समझना चाहिए।

'उवेहमाणे', 'अजू' और 'मारामिसंकी' ये तीन विशेषण अप्रमत्त एवं जागृत साधक के हैं। ऋजु सरलात्मा होता है, वही संयम को कष्टकारक न समझकर आत्मविकास के लिए आवश्यक समझता है और वही मृत्यु के प्रति सावधान भी रहता है कि अचानक मृत्यु आकर मुझे भयभीत न कर दे।

'मरणा पमुच्चति' का अर्थ है—मरण के भय से या दुःख से वह अप्रमत्त साधक मुक्त हो जाता है, क्योंकि आत्मा के अमरत्व में उसकी दृढ़ आस्था होती है।

'अप्रमत्त' शब्द यहाँ भीतर में जागृत (चैतन्य की सतत स्मृति रखने वाला) और बाहर में (विषय-कषाय आदि आत्म-बाह्य पदार्थों के विषय में) सुप्त अर्थ में प्रयुक्त है।

सूत्र १०९ में शब्द-रूप आदि काम-भोगों से सावधान एवं जागृत रहने वाले तथा हिंसा आदि विभिन्न पाप कर्मों से विरत रहने वाले साधक को वीर, आत्मगुप्त और खेदज्ञ बताकर उसे शब्दादि कामों की विभिन्न पर्यायों से होने वाले शस्त्र (असंयम) और उसके विपरीत अशस्त्र (संयम) का खेदज्ञ बताया गया है।

'खेयन्ने'—इसके संस्कृत में दो रूप बनते हैं—खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ। यहाँ 'खेयन्ने' का 'क्षेत्रज्ञ' रूप अधिक संगत प्रतीत होता है, और क्षेत्र का अर्थ आत्मा या आकाश की अपेक्षा अन्तर् (हार्द) अर्थ प्रसंगानुसारी मालूम होता है।

शस्त्र और अशस्त्र से यहाँ असंयम और संयम अर्थ का ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि असंयम—विभिन्न विषय भोगों में होने वाली आसक्तिरूप शस्त्र है, और संयम पापरहित अनुष्ठान होने से अशस्त्र है। निष्कर्ष यह है कि शस्त्र घातक होता है, अशस्त्र अघातक। जो

प्रश्न—भंते ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है ?

उत्तर—'गौतम ! देव दो प्रकार के हैं—पूर्वोपपन्नक और पश्चाद्-उपपन्नक। इनमें जो पूर्वोपपन्नक होते हैं, वे क्रमशः उत्तरोत्तर अविशुद्धतर वर्ण के होते हैं और जो पश्चाद्-उपपन्नक होते हैं, वे उत्तरोत्तर क्रमशः विशुद्धतर वर्ण के होते हैं। इसी प्रकार लेश्या आदि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए। च्यवनकाल में सभी के निम्नलिखित बातें होती हैं—"माला का मुरझाना, कल्पवृक्ष का कम्पन, श्री और ह्री का नाश, वस्त्रों के उपराग का ह्रास, दैन्य, तन्द्रा, कामराग, अंगभंग, दृष्टिभ्रान्ति, कम्पन और अरति।

इसलिए देवों में भी जरा और मृत्यु का अस्तित्व है। —आचा० वृत्ति पत्रांक १४०

इष्ट-अनिष्ट शब्दादि विषयों के सभी पर्यायों (प्रकारों या विकल्पों) को, उनके संयोग-वियोग को शस्त्रभूत—असयम को जानता है, वह संयम को अविघातक एवं स्वपरोपकारी होने से अशस्त्रभूत समझता है। शस्त्र और अशस्त्र दोनों को भलीभाँति जानकर अशस्त्र को प्राप्त करता है, शस्त्र का त्याग करता है।

लोक-संज्ञा का त्याग

११०. अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति।
कम्मुणा[1] उवाधि जायति।

१११. कम्मं च पडिलेहाए कम्ममूलं च जं छणं,[2]
पडिलेहिय[3] सव्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेधावी विदित्ता लोगं वंता लोगसण्णं से मतिमं[4] परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

११०. कर्मों से मुक्त (अकर्म-शुद्ध) आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता। कर्म से उपाधि होती है।

१११. कर्म का भलीभाँति पर्यालोचन करके (उसे नष्ट करने का प्रयत्न करे)। कर्म का मूल (मिथ्यात्व आदि और) जो क्षण—हिंसा है, उसका भलीभाँति निरीक्षण करके (परित्याग करे)।

इन सबका (पूर्वोक्त कर्म और उनसे सम्बन्धित कारण और निवारण का) सम्यक् निरीक्षण करके संयम ग्रहण करे तथा दो (राग और द्वेष) अन्तों से अदृश्य (दूर) होकर रहे।

---

१. 'उवहिं', 'कम्मुणा उवधि', इस प्रकार के पाठान्तर भी मिलते हैं। चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'कम्मुणा उवधि, उवधी तिविहो—आतोवही, कम्मोवही, सरीरोवही, तत्थ अप्पा दुप्पउत्तो आतोवहो, ततो कम्मोवही भवति, ततो सरीरोवही भवति, सरीरोवहोओ य ववहरिज्जति, तंजहा" नेरइओ एवमादि।" कर्म से उपधि होती है। उपधि तीन प्रकार की है—आत्मोपधि, कर्मोपधि और शरीरोपधि। जब आत्मा विषय-कषायादि में दुष्प्रयुक्त होता है, तब आत्मोपधि—आत्मा परिग्रह रूप होता है। तब कर्मोपधि का संचय होता है, और कर्म से शरीरोपधि होती है। शरीरोपधि को लेकर नैरयिक, मनुष्य आदि व्यवहार (संज्ञा) होता है।

२. 'कम्ममाहूय जं छणं' इस प्रकार का पाठान्तर मिलता है। उसका भावार्थ यह है कि जिस क्षण, अज्ञान प्रमाद आदि के कारण कर्मबन्धन को हेतु रूप कोई प्रवृत्ति हो जाए तो सावधान साधक तत्क्षण उसके मूल कारण की खोज करके उससे निवृत्त हो जाए।

३. 'पडिलेहिय सव्वं समायाय' इसके स्थान पर चूर्णि में 'पडिलेहेहिं य सव्वं समायाए' पाठ मिलता है। इसका अर्थ है—भली-भाँति निरीक्षण-परीक्षण करके पूर्वोक्त कर्म और उसके सब उपादान रूप तत्त्वों का निवारण करे।

४. किसी-किसी प्रति में 'मतिमं (मइम) के स्थान पर 'मेधावी' शब्द मिलता है, उसका प्रसंगवश अर्थ किया गया है—मेधावी—मर्यादाव्यवस्थित होकर साधक संयम पालन में पराक्रम करे।

मेधावी साधक उसे (राग-द्वेषादि को) ज्ञात करके (ज्ञपरिज्ञा से जाने और प्रत्याख्यान परिज्ञा से छोड़े)।

यह मतिमान् साधक (रागादि से मूढ़ या विषय-कषाय में ग्रस्त) लोक को जानकर लोक-संज्ञा (विषयैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा आदि) का त्याग करके (संयमानुष्ठान में) पराक्रम करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इन दोनों सूत्रों में कर्म और उसके संयोग से होने वाली आत्मा की द्वा कर्म के उपादान (राग-द्वेष), बन्ध के मूल कारण आदि को भलीभाँति जानकर उसका त्य करने का निर्देश किया है। अन्त में कर्मों के बीज—राग और द्वेष रूप दो अन्तों का प त्याग करके (विषय-कषायरूप लोक) को जानकर लोक-संज्ञा को छोड़कर संयम में उद्यम करने की प्रेरणा दी है।

जो सर्वथा कर्ममुक्त हो जाता है, उसके लिए नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, बाल, वृद्ध, युवक, पर्याप्तक, अपर्याप्तक आदि व्यवहार—व्यपदेश (संज्ञाएं) नहीं होता।

जो कर्मयुक्त है, उसके लिए ही कर्म को लेकर नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य आदि की या एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की, मन्दबुद्धि, तीक्ष्णबुद्धि, चक्षुदर्शनी आदि, सुखी-दुःखी, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, स्त्री-पुरुष, कषायी, अल्पायु-दीर्घायु, सुभग-दुर्भग, उच्चगोत्री-नीचगोत्री, कृपण-दानी, सशक्त-अशक्त आदि उपाधि—व्यवहार या विशेषण होता है। इन सब विभाजनों (विभेदों और व्यवहारों का हेतु कर्म है) इसलिए कर्म ही उपाधि का कारण है।

'कम्मं च पडिलेहाए' का तात्पर्य है—कर्म का स्वरूप, कर्मों की मूल प्रकृति-उत्तर-प्रकृतियाँ, कर्मबन्ध के कारण, प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश रूप बन्ध के प्रकार, कर्मों का उदय, उदीरणा, सत्ता आदि तथा कर्मों के क्षय एवं आस्रव-संवर के स्वरूप का भलीभाँति चिन्तन-निरीक्षण करके कर्मों को क्षय करने का प्रयत्न करना चाहिए।

'कम्ममूलं च जं छणं, पडिलेहिय' का अर्थ है—कर्मबन्ध के मूल कारण पाँच हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। इन कर्मों के मूल का विचार करे। 'क्षण' का अर्थ क्षणन-हिंसन है, अर्थात् प्राणियों को पीड़ाकारक जो प्रवृत्ति है, उसका भी निरीक्षण करे एवं परित्याग करे। इसका एक सरल अर्थ यह भी होता है—कर्म का मूल हिंसा है अथवा हिंसा का मूल कर्म है। दो अन्त अर्थात किनारे हैं—राग और द्वेष।

'अदिस्समाणे' का शब्दशः अर्थ होता है—अदृश्यमान। इससे सम्बन्धित वाक्य का तात्पर्य है—राग और द्वेष से जीव दृश्यमान होता है, शीघ्र पहिचान लिया जाता है, परन्तु वीतराग राग और द्वेष इन दोनों से दृश्यमान नहीं होता। अथवा यहाँ साधक को यह चेतावनी दी गयी है कि वह राग और द्वेष—इन दोनों अन्तों का स्पर्श करके रागी के और द्वेषी संज्ञा से (अदिश्यमान) व्यपदिष्ट न हो।

'लोक-संज्ञा' का भावार्थ यों है—प्राणिलोक की आहारादि चार संज्ञाएँ अथवा दस [illegible] वैदिक धर्मग्रन्थों में वित्तैषणा, कामैषणा (पुत्रैषणा) और लोकैषणा रूप जो तीन [illegible] बताई हैं, वे भी लोकसंज्ञा हैं। लोकसंज्ञा का संक्षिप्त अर्थ 'विषयासक्ति' भी हो [illegible] है।

'लोक' से यहाँ तात्पर्य— रागादि मोहित लोक या विषय-कषायलोक से है।

'परक्कमेज्जासि' से संयम, तप, त्याग, धर्माचरण आदि में पुरुषार्थ करने का निर्देश है।

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

[illegible]-परिज्ञान

११२. जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास, भूतेहिं जाण पडिलेह सातं ।
तम्हाऽतिविज्जं[1] परमं ति णच्चा सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥४॥

११३. उम्मुंच पासं इह मच्चिएहिं, आरंभजीवी[2] उभयाणुपस्सी ।
कामेसु गिद्धा णिचयं करेंति, संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं ॥५॥

११४. अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मण्णति ।
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वड्ढेति अप्पणो ॥६॥

११५. तम्हाऽतिविज्जं परमं ति णच्चा, आयंकदंसी ण करेति पावं ।
अग्गं[3] च मूलं च विगिंच धीरे, पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी ॥७॥

११६. एस मरणा पमुच्चति, से हु दिट्ठभये[4] मुणी ।
लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिते सहिते सया जते कालकंखी परिव्वए ।
बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं ।

११७. सच्चंसि[5] धितिं कुव्वह । एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेति ।

---

1. 'अतिविज्जं' के स्थान पर चूर्णि में 'तिविज्जो' पाठ है जिसका अर्थ है—तीन विद्याओं का ज्ञाता ।
2. 'आरंभजीवी उभयाणुपस्सी' पाठ के स्थान पर 'आरम्भजीवी तु भयाणुपस्सी' पाठ चूर्णि में मिलता है जिसका अर्थ है—जो [illegible] महारम्भी-महापरिग्रही है—वह आरम्भ समस्त वध, बन्ध, निरोध, मृत्यु आदि का भय देखता है ।
3. [illegible] यहाँ पाठ है—मूलं च अग्गं च विवेत्तु धीरे, कम्मासवा वेति विमोक्खणं च । [illegible] अर्थात्—'हे धीर ! मूल और अग्र का विवेक कर । कभी [illegible] (आस्रव) और कभी [illegible] विमोक्षण (मुक्ति) का भी विवेक कर । [illegible]"
4. 'दिट्ठभए' के स्थान पर 'दिट्ठवहे' और 'दिट्ठपहे' पाठान्तर मिलते हैं ।

११२. हे आर्य ! तू इस संसार में जन्म और वृद्धि को देख। तू प्राणियों (भूतग्राम) को (कर्मबन्ध और उसके विपाकरूप दु:ख को) जान और उनके साथ अपने सुख (दु:ख) का पर्यालोचन कर। इससे त्रैविद्य (तीन विद्याओं का ज्ञाता) या अतिविद्य बना हुआ साधक परम (मोक्ष) को जानकर (समत्वदर्शी हो जाता है)। समत्वदर्शी पाप (हिंसा आदि का आचरण) नहीं करता।

११३. इस संसार में मनुष्यों के साथ पाश (रागादि बन्धन) है, उसे तोड़ डाल; क्योंकि ऐसे लोग (काम-भोगों की लालसा से, उनकी प्राप्ति के लिए) हिंसादि पापरूप आरंभ करके जीते हैं। और आरंभजीवी पुरुष इहलोक और परलोक (उभय) में शारीरिक मानसिक काम-भोगों को ही देखते रहते हैं, अथवा आरंभजीवी होने से वह दण्ड आदि के भय का दर्शन (अनुभव) करते रहते है। ऐसे काम-भोगों में आसक्त जन (कर्मों का) संचय करते रहते हैं। (आसक्ति रूप कर्मों की जड़ें) बार-बार सींची जाने से वे पुन:-पुन: जन्म धारण करते हैं।

११४. वह (काम-भोगासक्त मनुष्य) हास्य-विनोद के कारण प्राणियों का वध करके खुशी मनाता है। बाल-अज्ञानी को इस प्रकार के हास्य आदि विनोद के प्रसंग से क्या लाभ है ? उससे तो वह (उन जीवों के साथ) अपना वैर ही बढ़ाता है।

११५. इसलिए अति विद्वान (उत्तम ज्ञानी) परम—मोक्ष पद को जान कर (हिंसा आदि में नरक आदि का आतंक-दु:ख देखता है) जो (हिंसा आदि पापों में) आतंक देखता है, वह पाप (हिंसा आदि पाप कर्म का आचरण नहीं करता।

हे धीर ! तू (इस आतंक-दु:ख के) अग्र और मूल का विवेक कर उसे पहचान ! वह धीर (साधक) (तप और संयम द्वारा रागादि बन्धनों को) परिच्छिन्न करके स्वयं निष्कर्मदर्शी (कर्मरहित सर्वदर्शी) हो जाता है।

११६. वह (निष्कर्मदर्शी) मरण से मुक्त हो जाता है। वह (निष्कर्मदर्शी) मुनि भय को देख चुका है (अथवा उसने मोक्ष पथ को देख लिया है।)

वह (आत्मदर्शी मुनि) लोक (प्राणि-जगत) में परम (मोक्ष या उसके कारण रूप संयम) को देखता है। वह विविक्त—(राग-द्वेष रहित शुद्ध) जीवन जीता है। वह उपशान्त, (पांच समितियों से) समित (सम्यक् प्रवृत्त) (ज्ञान आदि से) सहित (समन्वित) होता है। (अतएव) सदा संयत (अप्रमत्त-यतनाशील) होकर, (पण्डित-) मरण की आकांक्षा करता हुआ (जीवन के अन्तिम क्षण तक) परिव्रजन-विचरण करता है।

(इस जीव ने भूतकाल में) अनेक प्रकार के बहुत से पापकर्मों का बन्ध किया है।

११७. (उन कर्मों को नष्ट करने हेतु) तू सत्य में धृति कर। इस (सत्य) में स्थिर रहने वाला मेधावी समस्त पापकर्मों का शोषण (क्षय) कर डालता है।

विवेचन—इन सब सूत्रों में बन्ध और मोक्ष तथा उनके कारणों से सम्बन्धित परम बोध दिया गया है।

११२वें सूत्र में जन्म और वृद्धि को देखने की प्रेरणा दी गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि जिनवाणी के आधार पर वह अपने पूर्वजन्मों के विषय में चिन्तन करे कि मैं एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीवों में तथा नारक, तिर्यंच, देव आदि योनियों में अनेक वार जन्म लेकर फिर यहाँ मनुष्य-लोक में आया हूँ। उन जन्मों में मैंने कितने-कितने दुःख सहे होंगे? साथ ही वह यह भी जाने कि मैं कितनी निर्जरा और प्रचुर पुण्य संचय के फलस्वरूप एकेन्द्रिय से विकास करते-करते इस मनुष्य-योनि में आया हूँ, कितनी पुण्यवृद्धि की होगी, तब मनुष्य लोक में भी आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, पंचेन्द्रिय पूर्णता, उत्तम संयोग, दीर्घ-आयुष्य, श्रेष्ठ संयमी जीवन आदि पाकर इतनी उन्नति कर सका हूँ।

इस सूत्र का दूसरा आशय यह भी है कि संसार में जीवों के जन्म और उसके साथ लगे हुए अनेक दुःखों को, तथा बालक, कुमार, युवक और वृद्ध रूप जो वृद्धि/विकास हुआ है, उस बीच आने वाले शारीरिक तथा मानसिक दुःखों/संघर्षों को देख। अपने अतीत के अनेक जन्मों की तथा विकास की शृंखला को देखना ही चिन्तन की गहराई में उतर कर जन्म और वृद्धि को देखना है। अतीत के अनेक जन्मों का, उनके कारणों और तज्जनितदुःखों एवं विकास-क्रम का चिन्तन करते-करते उन पर ध्यान केन्द्रित करने से संमूढता दूर हो जाती है और अपने पूर्वजन्मों का स्मरण (जाति-स्मरण) हो जाता है।[1] जब व्यक्ति अपने इस जीवन के ५०-६० वर्षों के घटनाचक्रों को स्मृति पथ पर ले आता है, तब यदि प्रयत्न करे और बुद्धि संमोहित न हो तो पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ भी उभर सकती हैं। पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं होती? इसके विषय में कहा गया है—

> जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो।
> तेण दुक्खेण संमूढो, न सरइ जाइमप्पणो॥

---

१ देव मृगापुत्र को श्रमण को अनिमिष दृष्टि से देखते हुए, शुभ अध्यवसाय के कारण मोह दूर होते ही जाति-स्मरण ज्ञान हुआ और वह अपने पूर्वजन्म को देखने लगा। फलतः विषयों से विरक्त और संयम में अनुरक्त होकर उसने अपने माता-पिता से प्रव्रज्या के लिए अनुमति मांगी। साथ ही वह अपने पिछले जन्मों में उपभुक्त विषयभोगों के कटु एवं दुःखद परिणाम, शरीर और भोगों की अनित्यता, अशुचिता (नश्वरता), मनुष्य जन्म की असारता, व्याधिग्रस्तता, जरा-मरण-ग्रस्तता आदि का वर्णन करने लगा था। उसने अपने माता-पिता से कहा था—

> माणुसत्ते असारम्मि वाही-रोगाण आलए।
> जरामरणघत्थम्मि खणं पि न रमामहं॥१४॥
> जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगाणि मरणाणि य।
> अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥१५॥ —उत्तरा० अ० १६

इससे स्पष्ट है कि अपने पिछले जन्मों और विकास यात्रा का अनुस्मरण करने से साधक को अपने ... के साथ लगे हुए अनेक दुःखों, उनके कारणों और उपायों का ज्ञान हो सकता है।

जन्म और मृत्यु के समय जीव को जो दु:ख होता है, उस दु:ख से संमूढ़ बना हुआ व्यक्ति अपने पूर्व जन्म का स्मरण नहीं कर पाता।

'भूतेहिं जाण पडिलेह सातं'—का तात्पर्य यह है कि संसार के समस्त भूतों (प्राणियों को) जो कि १४ भेदों में विभक्त हैं, उन्हें जाने; उन भूतों (प्राणियों) के साथ अपने सुख की तुलना और पर्यालोचन करे कि जैसे मुझे सुख प्रिय है और दु:ख अप्रिय है; वैसे ही संसार के सभी प्राणियों को है। ऐसा समझ कर तू किसी का अप्रिय मत कर, दु:ख न पहुँचा। ऐसा करने से तू जन्म-मरणादि का दु:ख नहीं पाएगा।

'तम्हाऽतिविज्जं परमं ति णच्चा'—इस सूत्र के अन्तर्गत कई पाठान्तर हैं। बहुत सी प्रतियों में 'तिविज्जो' पाठ मिलता है, वह यहाँ संगत भी लगता है, क्योंकि इससे पूर्व शास्त्रकार तीन बातों का सूक्ष्म एवं तात्त्विक दृष्टि से जानने-देखने का निर्देश कर चुके हैं। वे तीन बातें ये हैं—(१) पूर्वजन्म-शृंखला और विकास की स्मृति, (२) प्राणिजगत् को भलीभाँति जानना और (३) अपने सुख-दु:ख के साथ उनके सुख-दु:ख की तुलना करके पर्यालोचन करना। इन्हीं तीन बातों का ज्ञान प्राप्त करना त्रिविद्या है। त्रिविद्या जिसे उपलब्ध हो गयी है, वह त्रैविद्य कहलाता है।

बौद्ध दर्शन में भी त्रिविद्या का निरूपण इस प्रकार है—(१) पूर्वजन्मों को जानने का ज्ञान, (२) मृत्यु तथा जन्म को (इनके दु:खों को) जानने का ज्ञान, (३) चित्तमलों के क्षय का ज्ञान। इन तीन विद्याओं को प्राप्त कर लेने वाले को वहाँ 'तिविज्ज' (त्रैविद्य) कहा है।[1]

दूसरा पाठान्तर है—'अतिविज्जे'—इसका अर्थ वृत्तिकार ने यों किया है—जिसकी विद्या जन्म, वृद्धि, सुख-दु:ख के दर्शन से अतीव तत्त्व विश्लेषण करने वाली है, वह अतिविद्य अर्थात् उत्तम ज्ञानी है।

इन दोनों संदर्भों में वाक्य का अर्थ होता है—"इसलिए वह त्रैविद्य या अतिविद्य (अति विद्वान्) परम को जानकर ....." यहाँ अतिविद्य या त्रिविद्य परम का विशेषण है, इसलिए अर्थ होता है—अतीव तत्त्व ज्ञान से युक्त या तीन विद्याओं से सम्बन्धित परम को जानकर....।"

'परम' के अनेक अर्थ हो सकते हैं—निर्वाण, मोक्ष, सत्य (परमार्थ)। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र भी परम के साधन होने से परम माने गये हैं।

'समत्तदंसी'—जो समत्वदर्शी है, वह पाप नहीं करता, इसका तात्पर्य यह है कि पाप और विषमता के मूल कारण राग और द्वेष हैं। जो अपने भावों को राग-द्वेष से कलुषित-मिश्रित नहीं करता और न किसी प्राणी को राग-द्वेषयुक्त दृष्टि से देखता है, वह समत्वदर्शी

---

१. त्रैविद्य का उल्लेख जैसे बौद्ध साहित्य में मिलता है, वैसे वैदिक साहित्य में भी मिलता है। देखिये—भगवद्गीता अ० ९ में २० वां श्लोक—

"त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा, यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।"

यहाँ त्रैविद्य का अर्थ वैसा ही कुछ होना चाहिए जैसा कि जैनशास्त्र में पूर्वजन्म-दर्शन, विकास-दर्शन तथा प्राणि समत्व-दर्शन, आत्मौपम्य—सुख-दु:ख-दर्शन है।

होता है। वह पाप कर्म के मूल कारण—राग द्वेष को अन्तःकरण में आने नहीं देता, तब उससे पाप कर्म होगा ही कैसे ?

'सम्मत्तदंसी' का एक रूप 'सम्मत्तदंसी' भी होता है।[1] सम्यक्त्वदर्शी पापाचरण नहीं करता, इसका रहस्य यही है कि पाप कर्म की उत्पत्ति, उसके कटु परिणाम और वस्तु के यथार्थ स्वरूप का सम्यग् ज्ञान जिसे हो जाता है, वह सत्यदृष्टा असम्यक् (पाप का) आचरण कर ही कैसे सकता है ?

११३वें सूत्र में पाप कर्मों का संचय करने वाले की वृत्ति, प्रवृत्ति और परिणति (फल) का दिग्दर्शन कराया गया है।

'पास' का अर्थ बंधन है। उसके दो प्रकार हैं—द्रव्य बन्धन और भाव बन्धन। यहाँ मुख्य भाव बन्धन है। भाव बन्धन राग, मोह, स्नेह, आसक्ति, ममत्व आदि हैं। ये ही साधक को जन्म-मरण के जाल में फँसाने वाले पाश हैं।

'आरंभजीवी उभयाणुपस्सी' पद में आरम्भ से महारम्भ और उसका कारण महापरिग्रह दोनों का ग्रहण हो जाता है। मनुष्यों—मर्त्यों के साथ पाश—बंधन को तोड़ने का कारण यहाँ आरंभजीवी आदि पदों से बताया गया है। जो आरंभजीवी होता है, वह उभयलोक (इहलोक-परलोक) को या उभय (शरीर और मन दोनों) को ही देख पाता है, उससे ऊपर उठकर नहीं देखता। अथवा 'उ' को पृथक् मानने से 'भयाणुपस्सी' पाठ भी होता है, जिसका अर्थ होता है—महारम्भ-महापरिग्रह के कारण वह पुनः-पुनः नरकादि के या इस लोक के भयों का दर्शन (अनुभव) किया करता है।

चार पुरुषार्थों में कामरूप पुरुषार्थ जब साध्य होता है, तब उसका साधन बनता है—अर्थ। इसलिए काम-भोगों की आसक्ति मनुष्य को विविध उपभोग्य धनादि अर्थों—पदार्थों के संग्रह के लिए प्रेरित करती है। वह आसक्ति-महारंभ-महापरिग्रह का मूल प्रेरक तत्त्व है।

'संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं' में बताया है—हिंसा, झूठ, चोरी, काम-वासना, परिग्रह आदि पाप या कर्म की जड़ें हैं। उन्हें जो पापी लगातार सींचते रहते हैं, वे बार-बार विविध गतियों और योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

११४वें सूत्र में प्राणियों के वध आदि के निमित्त विनोद और उससे होने वाली वैर-वृद्धि का संकेत किया गया है।

कई महारंभी-महापरिग्रही मनुष्य दूसरों को मारकर, सताकर, जलाशय में डुबाकर, कोड़ों आदि से पीटकर या सिंह आदि हिंस्र पशुओं के समक्ष मनुष्य को मरवाने के लिए छोड़कर अथवा यज्ञादि में निर्दोष पशु-पक्षियों को बलि देकर या उनका शिकार करके अथवा उनकी हत्या करके क्रूर मनोरंजन करते हैं। इसी प्रकार कई लोग झूठ बोलकर, चोरी करके

---

१ आवश्यक निर्युक्ति (गा० १०४६) में सम्यक्त्व को समत्व का पर्यायवाची बताया है—
'समया सम्मत्त-पसत्थ-संति-सिव हिय-सुहं अनिंदं च।
अदुगुंछिय मगरहियं अणवज्जमिमेऽवि एगट्ठा।।'

या स्त्रियों के साथ व्यभिचार करके या दूसरे का धन, मकान आदि हड़प करके या अपने कब्जे में करके हास-विनोद या प्रमोद की अनुभूति करते हैं। ये सभी दूसरे प्राणियों के साथ अपना वैर (शत्रुभाव) बढ़ाते रहते हैं।[1]

'अलं बालस्स संगेण' के दो अर्थ स्पष्ट होते हैं—एक अर्थ जो वृत्तिकार ने किया है, वह इस प्रकार है—"ऐसे मूढ अज्ञ पुरुष का, हास्यादि, प्राणातिपातादि तथा विषय-कषायादिरूप संग न करे, इनका संसर्ग करने से वैर की वृद्धि होती है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि ऐसे विवेकमूढ अज्ञ (बाल) का संग (संसर्ग) मत करो; क्योंकि इससे साधक की बुद्धि भ्रष्ट हो जाएगी, मन की वृत्तियाँ चंचल होंगी। वह भी उनकी तरह विनोदवश हिंसादि पाप करने को देखादेखी प्रेरित हो सकता है।[2]

आतंकदर्शी पाप नहीं करता; इसका रहस्य है—'कर्म या हिंसा के कारण दुःख होता है'—जो यह जान लेता है, वह आतंकदर्शी है, वह स्वयं पापानुबन्धी कर्म नहीं करता, न दूसरों से कराता है, न करने वाले का अनुमोदन करता है।

'अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे'—इस पद में आये—'अग्र' और 'मूल' शब्द के यहाँ कई अर्थ होते हैं—वेदनीयादि चार अघाति कर्म अग्र हैं, मोहनीय आदि चार घाति कर्म मूल हैं।

मोहनीय सब कर्मों का मूल है, शेष सात कर्म अग्र हैं।

मिथ्यात्व मूल है, शेष अव्रत-प्रमाद आदि अग्र है।

धीर साधक को कर्मों के, विशेषतः पापकर्मों के, अग्र (परिणाम या आगे के शाखा-प्रशाखा रूप विस्तार) और मूल (मुख्य कारण या जड़) दोनों पर विवेक-बुद्धि से निष्पक्ष होकर चिन्तन करना चाहिए। किसी भी दुष्कर्मजनित संकटापन्न समस्या के केवल अग्र (परिणाम) पर विचार करने से वह सुलझती नहीं, उसके मूल पर ध्यान देना चाहिए। कर्मजनित दुःखों का मूल (बीज) मोहनीय है, शेष सब उसके पत्र-पुष्प हैं।

इस सूत्र का एक और अर्थ भी वृत्तिकार ने किया है—दुःख और सुख के कारणों पर,

---

१. हँसी-मजाक से भी कई बार तीव्र वैर बंध जाता है। वृत्तिकार ने समरादित्य कथा के द्वारा संकेत किया है कि गुणसेन ने अग्निशर्मा की अनेक तरह से हँसी उड़ाई, इस पर दोनों का वैर बंध गया, जो नौ जन्मों तक लगातार चला। —आचा० टीका पत्रांक १४५

२ 'अलं बालस्स संगेण' इस सूत्र का एक अर्थ यह भी सम्भव है—बाल—अज्ञानी जन का संग—सम्पर्क मत करो; क्योंकि अज्ञानी विषयासक्त मनुष्य का संसर्ग करने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जीवन में अनेक दोषों और दुर्गुणों तथा उनके कुसंस्कारों के प्रविष्ट होने की आशंका रहती है। अपरिपक्व साधक को अज्ञानीजन के सम्पर्क से ज्ञान-दर्शन-चारित्र से भ्रष्ट होते देर नहीं लगती। उत्तराध्ययन (३२।५) में स्पष्ट कहा है—

न वा लभेज्जा निउणं सहायं गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो॥

"यदि निपुण ज्ञानी, गुणाधिक या सम-गुणी का सहाय प्राप्त न हो तो, अनासक्त भावपूर्वक अकेला ही विचरण करे, किन्तु अज्ञानी का संग न करे।"

विवेक बुद्धि से सुशोभित धीर यों विचार करे—इनका मूल है—असंयम या कर्म और अग्र है—संयम-तप, या मोक्ष।[1]

'पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी' का भावार्थ बहुत गहन है। तप और संयम के द्वारा राग-द्वेषादि बन्धनों को या उनके कार्यरूप कर्मों को सर्वथा छिन्न करके आत्मा निष्कर्मदर्शी हो जाता है। निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ हो सकते हैं—(१) कर्मरहित शुद्ध आत्मदर्शी, (२) राग-द्वेष के सर्वथा छिन्न होने से सर्वदर्शी, (३) वैभाविक क्रियाओं (कर्मों-व्यापारों) के सर्वथा न होने से अक्रियादर्शी और (४) जहाँ कर्मों का सर्वथा अभाव है, ऐसे मोक्ष का द्रष्टा।[2]

११६वें सूत्र में मृत्यु से मुक्त आत्मा की विशेषताओं और उसकी चर्या के उद्देश्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

'दिट्ठभए या दिट्ठपहे'—दोनों ही पाठ मिलते हैं। 'दिट्ठभए' पाठ अधिक संगत लगता है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में भय की चर्चा करते हुए कहा है—"मुनि इस जन्म-मरणादि रूप ससार का अवलोकन गहराई मे करता है तो वह संसार में होने वाले जन्म-मरण, जरा-रोग आदि समस्त भयों का दर्शन—मानसिक निरीक्षण कर लेता है। फलतः वह संसार के चक्र में नही फंसता, उनमे बचने का प्रयत्न करता है।" आगे के 'लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी' आदि विशेषण उसी संदर्भ में अंकित किये गये हैं।

'दिट्ठपहे' पाठ अंगीकृत करने पर अर्थ होता है—जिसने मोक्ष का पथ देख दिया है, अथवा जो इस पथ का अनुभवी है।

सूत्र ११२ से ११७ तक शास्त्रकार का एक ही स्वर गूंज रहा है—ज्ञाता-द्रष्टा बनो। ज्ञाता-द्रष्टा का अर्थ है—अपने मन की गहराइयों में उतर कर प्रत्येक वस्तु या विचार को जानो-देखो, चिन्तन करो, परन्तु उसके साथ राग और द्वेष को या इनके किसी परिवार को मत मिलाओ, तटस्थ होकर वस्तुस्वरूप का विचार करो, इसी का नाम ज्ञाता-द्रष्टा बनना है। इन सूत्रों में चार प्रकार के द्रष्टा (दर्शी) बनने का उल्लेख है—(१) समत्वदर्शी या सम्यक्त्वदर्शी, (२) आत्मदर्शी, (३) निष्कर्मदर्शी और (४) परमदर्शी। इसी प्रकार दृष्टभय/दृष्टपथ, अग्र और मूल का विवेक कर, जन्म, वृद्धि, प्राणियों के साथ सुख-दुःख में ममत्व तथा आत्मैकत्व के प्रतिप्रेक्षण आदि में भी द्रष्टा-ज्ञाता बनने का सकेत है।

'कालकंखी'—साधक को मृत्यु की आकाक्षा नही करनी चाहिए, क्योंकि संलेखना के पांच अतिचारो में से एक है—'मरणासंसप्पओगे'—मृत्यु की आशंसा-आकाक्षा न करना। फिर यहाँ उसे काल-कांक्षी बताने के पीछे क्या रहस्य है? वृत्तिकार इस प्रश्न का समाधान यों करते हैं—काल का अर्थ है—मृत्युकाल, उसका आकांक्षी, अर्थात्—मुनि मृत्युकाल आने पर 'पण्डितमरण' की आकाक्षा (मनोरथ) करने वाला होकर परिव्रजन (विचरण) करे! 'पंडितमरण' जीवन की सार्थकता है। पंडितमरण की इच्छा करना मृत्यु को जीतने की कामना है।

१. आचा० टीका पत्रांक १४५।
२. आचा० टीका पत्रांक १४५।

अतीत की बातों को आत्म-शुद्धि या दोष-परिमार्जन की दृष्टि से याद करना साधक के लिए आवश्यक है। इसलिए यहाँ शास्त्रकार ने साधक को स्मरण दिलाया है—'बहुं च खलु पाव कम्म पगडं'—इस आदेश सूत्र के परिप्रेक्ष्य में साधक पाप कर्म की विभिन्न प्रकृतियों, स्थिति अनुभाग, प्रदेश, उन पापकर्मों से मिलने वाला फल—बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता निर्जरा और कर्मक्षय आदि पर गहराई से चिन्तन करे।[1]

११७वें सूत्र में, साधक को सत्य में स्थिर रहने का अप्रतिम महत्त्व समझाया है।

वृत्तिकार ने विभिन्न दृष्टियों से सत्य के अनेक अर्थ किये हैं—

(१) प्राणियों के लिए जो हित है, वह सत्य है—वह है संयम।

(२) जिनेश्वर देव द्वारा उपदिष्ट आगम भी सत्य है, क्योंकि वह यथार्थ वस्तु-स्वरूप को प्रकाशित करता है।

(३) वीतराग द्वारा प्ररूपित विभिन्न प्रवचन रूप आदेश भी सत्य हैं।[2]

असंयत की व्याकुल चित्तवृत्ति

११८. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहइ पूरइत्तए।

से अण्णवहाए अण्णपरियावाए अण्णपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए[3] जणवयपरिग्गहाए।

११८. यह (असंयमी) पुरुष अनेक चित्त वाला है। यह चलनी को (जल से) भरना चाहता है।

वह (तृष्णा की पूर्ति के हेतु व्याकुल मनुष्य) दूसरों के वध के लिए, दूसरों के परिताप के लिए, दूसरों के परिग्रह के लिए, तथा जनपद के वध के लिए, जनपद के परिताप के लिए और जनपद के परिग्रह के लिए (प्रवृत्ति करता है)।

विवेचन—इस सूत्र में विषयासक्त असंयमी पुरुष की अनेकचित्तता—व्याकुलता, तथा विवेक-हीनता एवं उसके कारण होने वाले अनर्थों का दिग्दर्शन है।

वृत्तिकार ने संसार-सुखाभिलाषी पुरुष को अनेक चित्त बताया है, क्योंकि वह लोभ से प्रेरित होकर कृषि, व्यापार, कारखाने आदि अनेक धंधे छेड़ता है, उसका चित्त रात-दिन उन्हीं अनेक धंधों की उधेड़बुन में लगा रहता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६७।

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४७।

३. चूर्णि के अनुसार 'जणवयपरितावाए' पाठ भी है, उसका अर्थ चूर्णिकार ने किया है—'पररट्ठमद्दणे वा रायाणो जणवयं परितावयंति'—पर राष्ट्र का मर्दन करने के लिए राजा लोग जनपद या जानपदों को संतप्त करते हैं। वृत्तिकार ने 'जनपदानां परिवादाय' अर्थ किया है, अर्थात् जनपदनिवासी लोगों के परिवाद (बदनाम करने) के लिए—यह चुगलखोर है, जासूस है, चोर है, लुटेरा है, इस प्रकार मर्मोद्घाटन के लिए प्रवृत्त होते हैं।

अनेकचित्त पुरुष अतिलोभी बनकर कितनी बड़ी असम्भव इच्छा करता है, इसके
ए शास्त्रकार चलनी का दृष्टान्त देकर समझाते है, कि वह चलनी को जल से भरना चाहता
अर्थात् चलनी रूप महातृष्णा को धनरूपी जल से भरना चाहता है। वह अपने तृष्णा के
पर को भरने हेतु दूसरे प्राणियों का वध करता है, दूसरों को शारीरिक, मानसिक संताप
ा है, द्विपद (दास-दासी, नौकर-चाकर आदि), चतुष्पद (चौपाये जानवरों) का संग्रह करता
इतना ही नही, वह अपार लोभ से उन्मत्त होकर सारे जनपद या नागरिकों का संहार
रने पर उतारु हो जाता है, उन्हें नाना प्रकार से यातनाएं देने को उद्यत हो जाता है, अनेक
नपदों को जीतकर अपने अधिकार में कर लेता है। यह है—तृष्णाकुल मनुष्य की अनेक
त्तता—किंवा व्याकुलता का नमूना।

<u>यम में समुत्थान</u>

११९. आसेवित्ता एयमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिता।
तम्हा तं बिइयं[1] नासेवते णिस्सारं पासिय णाणी।
उववायं चयणं णच्चा अणण्णं चर माहणे।
से ण छणे, न छणावए, छणंतं णाणुजाणति।
[2]णिव्विद णंदि अरते पयासु अणोमदंसी णिसण्णे पावेहिं[3] कम्मेहिं।

१२०. कोधादिमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं।
तम्हा हि वीरे विरते वधातो, छिंदिज्ज सोतं लहुभूयगामी[4] ॥८॥

१२१. गंथं परिण्णाय इहज्जेव[5] वीरे, सोयं[6] परिण्णाय चरेज्ज दंते।
उम्मुग्गं[7] लद्धुं इह माणवेहिं, णो पाणिणं पाणे समारंभेज्जासि ॥९॥
त्ति बेमि।

॥ बीओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. 'बिइयं नो सेवते', 'बीय नो सेवे', 'बितिय नासेवए'—ये पाठान्तर मिलते हैं। चूर्णिकार इस वाक्य का अर्थ करते हैं—"द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवते"—दूसरे मृषावाद का या असयम (पाप) का सेवन नही करता'।
२. 'णिव्विज्ज' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ है—विरक्त होकर।
३. 'पावेसु कम्मेसु' पाठ चूर्णि मे है, जिसका अर्थ है—'पाव कोहादिकसाया तेसु'—पाप है क्रोधादि कषाय, उनमें।
४. चूर्णि मे इसके स्थान पर 'छिंदिज्ज सोतं ण हु भूतगाम' पाठ मिलता है। उत्तरार्ध का अर्थ यो है—ईर्यासमिति आदि से युक्त साधक १४ प्रकार के भूत ग्राम (प्राणि-समूह) का छेदन न करे।
५. 'इहज्ज' के स्थान पर 'इह वज्ज' एव 'इहेज्ज' पाठ भी मिलते हैं। 'इह अज्ज' का अर्थ चूर्णिकार ने किया है—"इह पवयणे, अज्जेव मा चिरा"—"इस प्रवचन मे आज ही—बिलकुल विलम्ब किये बिना प्रवृत्त हो जाओ"।
६. 'सोत', 'सोत' पाठान्तर भी हैं, 'सोय' का अर्थ शोक है।
७. 'उम्मुग्ग' के स्थान पर 'उम्मग्ग' भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है—उन्मज्जन।

११६. इस प्रकार कई व्यक्ति इस अर्थ—(वध, परिताप, परिग्रह आदि असंयम) का आसेवन—आचरण करके (अन्त में) संयम-साधना में संलग्न हो जाते हैं। इसलिए वे (काम-भोगों को, हिंसा आदि आस्रवों को छोड़कर) फिर दुबारा उनका आसेवन नहीं करते।

हे ज्ञानी ! विषयों को निस्सार देखकर (तू विषयाभिलाषा मतकर)। (केवल मनुष्यों के ही जन्म-मरण नहीं), देवों के भी उपपात (जन्म) और च्यवन (मरण) निश्चित हैं, यह जानकर (विषय-सुखों में आसक्त मत हो)। हे माहन ! (अहिंसक) तू अनन्य (संयम या रत्नत्रयरूप मोक्ष-मार्ग) का आचरण कर।

वह (अनन्यसेवी मुनि) प्राणियों की हिंसा स्वयं न करे, न दूसरों से हिंसा कराए, और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करे।

तू (कामभोग जनित) आमोद-प्रमोद से विरक्तिकर (विरक्त हो)। प्रजाओं (स्त्रियों) में अरक्त (आसक्ति रहित) रह।

अनवमदर्शी (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षदर्शी साधक) पापकर्मों से विषण्ण—उदासीन रहता है।

१२०. वीर पुरुष कषाय के आदि अंग—क्रोध (अनन्तानुबन्धी आदि चारों प्रकार के क्रोध) और मान को मारे (नष्ट करे), लोभ को महान नरक के रूप में देखे ! (लोभ साक्षात् नरक है), इसलिए लघुभूत (मोक्षगमन का इच्छुक अथवा अपरिग्रह वृत्ति अपना कर) बनने का अभिलाषी, वीर (जीव) हिंसा से विरत होकर स्रोतों (विषय-वासनाओं) को छिन्न-भिन्न कर डाले।

१२१. हे वीर इस लोक में ग्रन्थ (परिग्रह) को ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से आज ही अविलम्ब छोड़ दे, इसी प्रकार (संसार के) स्रोत-विषयों को भी जानकर दान्त(इन्द्रिय और मन का दमन करने वाला) बनकर संयम में विचरण कर। यह जानकर कि यहीं (मनुष्य-जन्म में) मनुष्यों के द्वारा ही उन्मज्जन (संसार सिन्धु से तरना) या कर्मों से उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है, मुनि प्राणियों के प्राणों का समारम्भ—संहार न करे। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—११६वें सूत्र में विषय-भोगों से विरक्त होकर संयम-साधना में जुटे हुए साधक को विषय-भोगों की असारता एवं जीवन की अनित्यता का सन्देश देकर हिंसा, काम-भोग जनित आनन्द, अब्रह्मचर्य आदि पापों से विरत रहने की प्रेरणा दी गयी है।

यह निश्चित है कि जो मनुष्य विषय-भोगों में प्रबल आसक्ति रखेगा, वह उनकी प्राप्ति के लिए हिंसा, क्रूर मनोविनोद, असत्य, व्यभिचार, क्रोधादि कषाय, परिग्रह आदि विविध पापकर्मों में प्रवृत्त होगा। अत. विषय-भोगों से विरक्त संयमीजन के लिए इन सब पापकर्मों से दूर रहने तथा विषय-भोगों की निस्सारता एवं जीवन की क्षणभंगुरता की प्रेरणा देनी अनिवार्य है। साथ ही यह भी बताना आवश्यक है कि कर्मों से मुक्त होने या संसार-सागर से पार

'लहुभूयगामी' के दो रूप होते हैं—(१) लघुभूतगामी और (२) लघुभूतकामी। लघुभूत-जो कर्मभार से सर्वथा रहित है—मोक्ष या संयम को प्राप्त करने के लिए जो गतिशील है, वह लघुभूतगामी है और जो लघुभूत (अपरिग्रही या निष्पाप होकर विमुक्त भूमिका) बनने की कामना (मनोरथ) करता है, वह लघुभूतकामी है।[1] ज्ञातासूत्र में[2] लघुभूत तुम्बी का उदाहरण देकर बताया है कि जैसे—सर्वथा लेपरहित होने पर तुम्बी जल के ऊपर आ जाती है, वैसे ही लघुभूत आत्मा संसार से ऊपर मोक्ष में पहुँच जाता है।

॥ द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ

तृतीय उद्देशक

समता-दर्शन

१२२. संधि लोगस्स जाणित्ता आयओ बहिया पास।

तम्हा ण हंता ण विघातए।

जमिणं अण्णमण्णवितिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेति पावं कम्मं किं तत्थ मुणी कारणं[3] सिया?

१२३. समयं तत्थुवेहाए अप्पाणं विप्पसादए।

अणण्णपरमं णाणी णो पमादे कयाइ वि।
आयगुत्ते सदा वीरे जायामायाए जावए ॥१०॥
विरागं रूवेहिं गच्छेज्जा महता खुड्डएहिं वा।[4]

आगतिं गतिं परिण्णाय दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं से ण छिज्जति, ण भिज्जति, ण डज्झति, ण हम्मति कंचणं सव्वलोए।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १४८। २. अध्ययन ६

३. 'मुणी कारणं' इस प्रकार के पदच्छेद किये हुए पाठ के स्थान पर 'मुणिकारणं' ऐसा एकपदीय पाठ चूर्णिकार को अभीष्ट है। इसकी व्याख्या यों की गई है यहाँ—तत्थ मुणिकारणं कारणं, अहोमुणातीति मुणिकारणमवि? तांव तत्थ ण सति, ... ण तत्थ मुणि कारणं सिया...तत्थ वि ताव मुणि कारणं ण अत्थि।—क्या वहाँ (द्रोह या पाप) नहीं हुआ, उसमें मुनि का कारण है? द्रोह न हुए, इसीलिए वहाँ वे मुनि के कारण नहीं हुए हैं। अथवा उसमें मुनि कारण नहीं है। वहाँ भी मुनि कारण नहीं है।

४. नागार्जुनीय वाचना में यहाँ अधिक पाठ इस प्रकार है—

'विसयम्मि पंचगम्मी वि, दुविहम्मि तियं तियं।
भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसु वि॥'

—शब्दादि पाँच विषयों के दो प्रकार हैं—इष्ट, अनिष्ट। उनके भी तीन-तीन भेद हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट। इन्हें भावतः-परमार्थतः भली-भाँति जानकर वह (मुनि) पाप कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उनमें राग और द्वेष नहीं करता।

१२४. अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे किमस्स तीतं किं वाऽऽगमिस्सं ।
भासंति एगे इह माणवा तु[1] जमस्स तीतं तं आगमिस्सं ॥११॥
णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं अट्ठं णियच्छंति तथागता उ ।
विधूतकप्पे एताणुपस्सी णिज्झोसइत्ता ।
का अरती के आणंदे ? एत्थंपि अग्गहे[2] चरे ।
सव्वं हासं परिच्चज्ज अल्लीणगुत्तो[3] परिव्वए ।

१२२. साधक (धर्मानुष्ठान की अपूर्व) सन्धि—वेला समझ कर (प्राणि-लोक को दुःख न पहुंचाए) अथवा प्रमाद करना उचित नहीं है।)

अपनी आत्मा के समान बाह्य-जगत (दूसरी आत्माओं) को देख ! (सभी जीवों को मेरे समान ही सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है) यह समझकर मुनि जीवों का हनन न करे और न दूसरो से घात कराए।

जो परस्पर एक दूसरे की आशंका से, भय से, या दूसरे के सामने (उपस्थिति में) लज्जा के कारण पाप कर्म नही करता, तो क्या ऐसी स्थिति में उस (पाप कर्म न करने) का कारण मुनि होना है ? (नही)

१२३. इस स्थिति में (मुनि) समता की दृष्टि से पर्यालोचन (विचार) करके आत्मा को प्रसाद—उल्लास युक्त रखे।

ज्ञानी मुनि अनन्य परम—(सर्वोच्च परम सत्य, संयम) के प्रति कदापि प्रमाद (उपेक्षा) न करे।

वह साधक सदा आत्मगुप्त (इन्द्रिय और मन को वश में रखने वाला) और वीर (पराक्रमी) रहे, वह अपनी संयम-यात्रा का निर्वाह परिमित—(मात्रा के अनुसार) आहार से करे।

वह साधक छोटे या बड़े रूपों—(दृश्यमान पदार्थों) के प्रति विरति धारण करे।

१.—१. यहाँ चूर्णिकार का अभिमत पाठ यों है—
किह से अतीतं, किह आगमिस्सं ?
जह से अतीतं, तह आगमिस्सं ।
इन पंक्तियों का अर्थ प्रायः एक-सा है।

२. इसके बदले चूर्णि में पाठ है—'एत्थ वि अगरहे चरे'। इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'रागदोसेहिं अगरहो, तम्मित्ते अह ण गरहिज्जति ण रज्जति दुस्सिति वा'—ग्रहण—(कर्मबन्धन) होता है, राग और द्वेष से। राग-द्वेष को ग्रहण न करने पर अ-ग्रह हो जाएगा। अर्थात् मुनि विषयादि के निमित्त राग-द्वेष का ग्रहण नहीं करता—न राग से रक्त होता है, न द्वेष से द्विष्ट।

३. 'अल्लीणगुत्तो' के स्थान पर 'आलीणगुत्ते' पाठ भी क्वचित् मिलता है। चूर्णिकार ने 'अल्लीणगुत्तो' का अर्थ इस प्रकार किया है—धम्मं आयरिय वा अल्लीणो तिविहाए गुत्तीए गुत्तो—धर्म में तथा आचार्य में इन्द्रियादि का संवरण कर लीन है, और तीन गुप्तियों से गुप्त है।

समस्त प्राणियों (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति के जीवो) की गति और आगति को भली-भांति जानकर जो दोनो अन्तों (राग और द्वेष) से दूर रहता है, वह समस्त लोक में किसी से (कही भी) छेदा नही जाता, भेदा नही जाता, जलाया नहीं जाता और मारा नहीं जाता।

१२४. कुछ (मूढ़मति) पुरुष भविष्यकाल के साथ पूर्वकाल (अतीत) का स्मरण नही करते। वे इसकी चिन्ता नही करते कि इसका अतीत क्या था, भविष्य क्या होगा? कुछ (मिथ्याज्ञानी) मानव यों कह देते हैं कि जो (जैसा) इसका अतीत था, वही (वैसा ही) इसका भविष्य होगा। किन्तु तथागत (सर्वज्ञ) (राग-द्वेष के अभाव के कारण) न अतीत के (विषय-भोगादि रूप) अर्थ का स्मरण करते हैं और न ही भविष्य के (दिव्यांगना-संगादि वैषयिक सुख) अर्थ का चिन्तन करते हैं।

(जिसने कर्मों को विविध प्रकार से धूत-कम्पित कर दिया है, ऐसे) विधूत के समान कल्प—आचार वाला महर्षि इन्ही (तथागतो) के दर्शन का अनुगामी होता है, अथवा वह क्षपक महर्षि वर्तमान का अनुदर्शी हो (पूर्व संचित) कर्मों का शोषण करके क्षीण कर देता है।

उस (धूत-कल्प) योगी के लिए भला क्या अरति है और क्या आनन्द है? वह इस विषय में (अरति और आनन्द के विषय में) बिलकुल ग्रहण रहित (अग्रह-*किसी प्रकार की पकड़ से दूर) होकर विचरण करे। वह सभी प्रकार के हास्य आदि* (प्रमादों) का त्याग करके इन्द्रियनिग्रह तथा मन-वचन-काया को तीन गुप्तियों से गुप्त (नियंत्रित) करते हुए विचरण करे।

विवेचन—सूत्र १२२ से १२४ तक सब में आत्मा के विकास, आत्म-समता, आत्म-शुद्धि, आत्म-प्रसन्नता, आत्म-जागृति, आत्म-रक्षा, पराक्रम, विषयों से विरक्ति, राग-द्वेष से दूर रहकर आत्म-रक्षण आत्मा का अतीत और भविष्य, कर्म से मुक्ति, आत्मा की भिन्नता, आत्म-*निग्रह आदि आध्यात्मिक आरोहण का स्वर गूंज रहा है।*

संधि लोगस्स जाणित्ता—यह सूत्र बहुत ही गहन और अर्थ गम्भीर है। वृत्तिकार ने संधि के संदर्भ मे इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की है—

(१) उदीर्ण दर्शन मोहनीय के क्षय तथा शेष के उपशान्त होने से प्राप्त सम्यक्त्व भाव-सन्धि है।

(२) विशिष्ट क्षायोपशमिक भाव प्राप्त होने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति रूप भाव-सन्धि।

(३) चारित्र मोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त सम्यक् चारित्र रूप भाव-सन्धि।

(४) सन्धि का अर्थ—सन्धान, मिलन या जुड़ना है। कर्मोदयवश ज्ञान-दर्शन-चारित्र के टूटते हुए अध्यवसाय का पुनः जुड़ना या मिलना भाव सन्धि है।

(५) धर्मानुष्ठान का अवसर भी सन्धि कहलाता है।

आध्यात्मिक (क्षायोपशमिकादि भाव) सन्धि को जानकर प्रमाद करना श्रेयस्कर नही

है, आध्यात्मिक लोक के तीन स्तम्भों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र का, टूटने से सतत रक्षण करना चाहिए। जैसे कारागार में बन्द कैदी के लिए दीवार में हुए छेद या बेड़ी को टूटी हुई जानकर प्रमाद करना अच्छा नहीं होता, वैसे ही आध्यात्मिक लोक में मुमुक्षु के लिए भी इस जीवन को, मोह-कारागार की दीवार का या बन्धन का छिद्र जानकर क्षणभर भी पुत्र, स्त्री या संसार सुख के व्यामोह रूप प्रमाद में फँसे रहना श्रेयस्कर नहीं होता।[1]

'आयओ बहिया पास' का तात्पर्य है—तू अध्यात्मलोक को अपनी आत्मा तक ही सीमित मत समझ। अपनी आत्मा का ही सुख-दुःख मत देख। अपनी आत्मा से बाहर लोक में व्याप्त समस्त आत्माओं को देख। वे भी तेरे समान हैं, उन्हें भी सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। इस प्रकार आत्म-समता की दृष्टि प्राप्त कर।

इसी बोधवाक्य की फलश्रुति अगले वाक्य—'तम्हा ण हंता ण विघातए' में दे दी है कि आत्मौपम्यभाव से सभी के दुःख-सुख को अपने समान जानकर किसी जीव का न तो स्वयं घात करे, न दूसरों से कराए।

अध्यात्मज्ञानी मुनि पाप कर्म का त्याग केवल काया से या वचन से ही नहीं करता, मन से भी करता है। ऐसी स्थिति में वह अपने त्याग के प्रति सतत वफादार रहता है। जो व्यक्ति किसी दूसरे के लिहाज, दबाव या भय से अथवा उनके देखने के कारण पापकर्म नहीं करता, किन्तु परोक्ष में, छिपकर करता है, वह अपने त्याग के प्रति वफादार कहाँ रहा? यही शंका इस सूत्र (अन्नमन्न [illegible] सिया ?) में उठायी गई है। इसमें से ध्वनि यही निकलती है कि जो व्यक्ति व्यवहार-बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरों के भय, दबाव या देखते हुए पापकर्म नहीं करता, वह उसका सच्चा त्याग नहीं है, क्योंकि उसके अन्तःकरण में पापकर्म-त्याग की इच्छा जगी नहीं है। इसलिए वह निश्चयदृष्टि से मुनि नहीं है, मात्र व्यवहारदृष्टि से वह मुनि कहलाता है। उसके पापकर्म त्याग में उसका मुनित्व कारण नहीं है।[2]

इसी सूत्र के सन्दर्भ में अगले सूत्र में समता के माध्यम से आत्म-प्रसन्नता की प्रेरणा दी गई है—इसका तात्पर्य यह है कि साधक मन-वचन-काया की समता—एकरूपता को रखे। दूसरों के देखते हुए पापकर्म न करने की तरह परोक्ष में भी न करना, समता है। इस प्रकार की समता में स्थित होकर जो साधक समय—(आत्मा या सिद्धान्त) के प्रति वफादार रहते हुए प्रत्यक्ष या परोक्ष में भी पापकर्म नहीं करता, पाप-त्याग एवं संयम का परिपालन करता है, उसमें सच्चा मुनित्व प्राप्त हो जाता है।

समय के यहाँ तीन अर्थ फलित होते हैं समता, आत्मा और सिद्धान्त।[3] इन तीनों के परिप्रेक्ष्य में—इन तीनों को केन्द्र में रखकर—साधक को पापकर्म त्याग की प्रेरणा यहाँ दी गई है। इसी से वह आत्मा में प्रसन्न हो सकता है अर्थात् आत्मिक प्रसन्नता—उल्लास का अनुभव कर सकता है। इसलिए यहाँ कहा गया है—'अप्पाणं विप्पसायए।'

१ आचा० टीका पत्र [illegible]
२ आचा० टीका पत्र [illegible]
३ आचा० टीका पत्र [illegible]

'आगति गति परिण्णाय' का तात्पर्य यह है कि चार गतियाँ हैं, उनमें से किस गति का जीव कौन-कौन सी गति में आ सकता है, और किस गति से कहाँ-कहाँ जा सकता है ? इसका ऊहापोह करना चाहिए। जैसे तिर्यंच और मनुष्य की आगति और गति (गमन) चारों गतियों में हो सकती है, किन्तु देव और नारक की आगति-गति तिर्यंच और मनुष्य इन दो ही गतियों से हो सकती है। किन्तु मनुष्य इन चारों गतियों में गमनागमन की प्रक्रिया को तोड़कर पंचम गति—मोक्षगति में भी जा सकता है; जहाँ से लौटकर वह अन्य किसी गति में नही जाता। उसका मूल कारण दो अन्तों—(राग-द्वेष का लोप, नाश) करना है। फिर उस विशुद्ध मुक्त आत्मा का लोक में कही भी छेदन-भेदनादि नही होता।[1]

१२४वें सूत्र की व्याख्या वृत्तिकार ने दार्शनिक, भौतिक और आध्यात्मिक साधना, इन तीनों दृष्टियों की है—कुछ दार्शनिकों का मत है—भविष्य के साथ अतीत की स्मृति नही करना चाहिए। वे भविष्य और अतीत में कार्य-कारण भाव नही मानते। कुछ दार्शनिकों का मन्तव्य है—जैसा जिस जीव का अतीत था, वैसा ही उसका भविष्य होगा। इसमें चिन्ता करने की क्या जरूरत है ?

तथागत (सर्वज्ञ) अतीत और भविष्य की चिन्ता नही करते, वे केवल वर्तमान को ही देखते हैं।

मोह और अज्ञान से आवृत बुद्धि वाले कुछ लोग कहते हैं कि यदि जीव के नरक आदि जन्मों में प्राप्त या उस जन्म मे बालक, कुमार आदि वय में प्राप्त दु:खादि का विचार—स्मरण करें या भविष्य में इस सुखाभिलाषी जीव को क्या-क्या दु:ख आएँगे ? इसका स्मरण-चिन्तन करेंगे तब तो वर्तमान में सासारिक सुखो का उपभोग ही नही कर पाएँगे। जैसा कि वे कहते हैं—

केण ममेत्थुप्पत्ती कह इओ तह पुणो वि गतम्व।
जो एत्तिय वि चिंतइ इत्थ सो को न निव्विण्णो॥

—भूतकाल के किस कर्म के कारण मेरी यहाँ उत्पत्ति हुई ? यहाँ से मरकर मैं कहाँ जाऊँगा ? जो इतना भी इस विषय में चिन्तन कर लेता है, वह संसार से उदासीन हो जाएगा संसार के सुखों में उसे अरुचि हो जाएगी !

कई मिथ्याज्ञानी कहते हैं—"अतीत और अनागत के विषय में क्या विचार करना है ? इस प्राणी का जैसा भी अतीत—स्त्री-पुरुष, नपुंसक, सुभग-दुर्भग, सुखी-दु:खी, कुत्ता, बिल्ली, गाय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप रहा है, वही इस जन्म में प्राप्त और अनुभूत हुआ है और इस जन्म (वर्तमान) में जो रूप (इनमें से) प्राप्त हुआ है, वही रूप आगामी जन्म (भविष्य) में प्राप्त होगा इसमें पूछना ही क्या है ? साधना करने की भी क्या जरूरत है ?"

आध्यात्मिक दृष्टि वाले साधक पूर्व अनुभूत विषय-सुखोपभोग आदि का स्मरण नही करते और न भविष्य के लिए विषय-सुख प्राप्ति का निदान (कामना मूलक संकल्प) करते हैं, क्योंकि वे राग-द्वेष से मुक्त हैं।

१. आचा० टीका पत्र १५०।

तात्पर्य यह है—राग-द्वेष रहित होने से ज्ञानी जन न तो अतीत कालीन विषय सुखों के उपभोगादि का स्मरण करते हैं, और न ही भविष्य में विषय-सुखादि की प्राप्ति का चिन्तन करते हैं। मोहोदयग्रस्त व्यक्ति ही अतीत और अनागत के विषय-सुखों का चिन्तन-स्मरण करते हैं।[1]

'विधूतकप्पे एतानुपस्सी' का अर्थ है—जिन्होंने अष्ट विध कर्मों को नष्ट (विधूत) कर दिया है, वे 'विधूत' कहलाते हैं। जिस साधक ने ऐसे विधूतों का कल्प—आचार ग्रहण किया है, वह इन वीतराग सर्वज्ञों का अनुदर्शी होता है। उसकी दृष्टि भी इन्हीं के अनुरूप होती है।

अरति, इष्ट वस्तु के प्राप्त न होने या वियोग होने से होती है और रति (आनन्द) इष्ट-प्राप्ति होने से। परन्तु जिस साधक का चित्त धर्म व शुक्लध्यान में रत है, जिसे आत्म-ध्यान में ही आत्मरति—आत्म-संतुष्टि या आत्मानन्द की प्राप्ति हो चुकी है, उसे इस बाह्य अरति या रति (आनन्द) से क्या मतलब है? इसीलिए साधक को प्रेरणा दी गयी है—'एत्थवि अग्गहे चरे' अर्थात् आध्यात्मिक जीवन में भी अरति-रति (शोक या हर्ष) के मूल राग-द्वेष का ग्रहण न करता हुआ विचरण करे।[2]

मित्र-अमित्र-विवेक

१२५. पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि?

जं जाणेज्जा उच्चालयितं तं जाणेज्जा दूरालयितं, जं जाणेज्जा दूरालइतं तं जाणेज्जा उच्चालइतं।

१२६. पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ, एवं दुक्खा पमोक्खसि।

१२५. हे पुरुष (आत्मन्) तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर, अपने से भिन्न मित्र क्यों ढूंढ रहा है?

जिसे तुम (अध्यात्म की) उच्च भूमिका पर स्थित समझते हो, उसका घर (स्थान) अत्यन्त दूर (सर्व आसक्तियों से दूर या मोक्ष मार्ग में) समझो, जिसे अत्यन्त दूर (मोक्ष मार्ग में स्थित) समझते हो, उसे तुम उच्च भूमिका पर स्थित समझो।

१२६. हे पुरुष! अपना (आत्मा का) ही निग्रह कर। इसी विधि से तू दुःख से (कर्म से) मुक्ति प्राप्त कर सकेगा।

सत्य में समुत्थान

१२७. पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि। सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए[3] मेधावी मारं तरति।

सहिते धम्ममादाय सेयं समणुपस्सति।

दुहतो जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए, जंसि एगे पमादेंति।

---

१. आचा० टीका पत्र १५१।

२. आचा० टीका पत्र १५२।

३. 'उवट्ठिए से मेहावी'—यह पाठान्तर भी है।

सहिते दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो झंझाए।
पासिमं दविए लोगालोगपवंचातो मुच्चति त्ति बेमि।

॥ तइओ उद्देसओ समत्तो ॥

१२७. हे पुरुष ! तू सत्य को ही भलीभाँति समझ ! सत्य की आज्ञा (मर्यादा) में उपस्थित रहने वाला वह मेधावी मार (मृत्यु, संसार) को तर जाता है।

सत्य या ज्ञानादि से युक्त (सहित) साधक धर्म को ग्रहण करके श्रेय (आत्म-हित) का सम्यक् प्रकार से अवलोकन—साक्षात्कार कर लेता है।

राग और द्वेष (इन) दोनों से कलुषित आत्मा जीवन की वन्दना, सम्मान और पूजा के लिए (हिंसादि पापों में) प्रवृत्त होता है। कुछ साधक भी इन (वन्दनादि) के लिए प्रमाद करते हैं।

ज्ञानादि से युक्त साधक (उपसर्ग-व्याधि आदि से जनित) दुःख की मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल नहीं होता।

आत्मद्रष्टा वीतराग पुरुष लोक में आलोक (द्वन्द्वो) के समस्त प्रपंचों (विकल्पों) से मुक्त हो जाता है।

विवेचन—इस सूत्र में परम सत्य को ग्रहण करने और तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सत्ययुक्त साधक की उपलब्धियों एवं असत्ययुक्त मनुष्यों की अनुपलब्धियों की भी संक्षिप्त झांकी दिखाई है।

'सच्चमेव समभिजाणाहि' में वृत्तिकार सत्य के तीन अर्थ करते हैं—(१) प्राणि मात्र के लिए हितकर-संयम, (२) गुरु साक्षी से गृहीत पवित्र संकल्प (शपथ), (३) सिद्धान्त या सिद्धान्त-प्रतिपादक आगम।[1]

साधक किसी भी मूल्य पर सत्य को न छोड़े, सत्य की ही आसेवना, प्रतिज्ञापूर्वक आचरण करे, सभी प्रवृत्तियों में सत्य को ही आगे रखकर चले। सत्य—स्वीकृत संकल्प एवं सिद्धान्त का पालन करे, यह इस वाक्य का आशय है।

'दुहतो' (द्विहतः) के चार अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—

(१) राग और द्वेष दो प्रकार से,
(२) स्व और पर के निमित्त से,
(३) इहलोक और परलोक के लिए,
(४) दोनों से (राग और द्वेष से) जो हत है, वह द्विहत है।[2]

'जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए'—इस वाक्य का अर्थ भी गहन है। मनुष्य अपने वन्दन, सम्मान एवं पूजा-प्रतिष्ठा के लिए बहुत उखाड़-पछाड़ करता है, अपनी प्रसिद्धि के लिए बहुत ही आरम्भ-समारम्भ, आडम्बर और प्रदर्शन करता है, सत्ताधीश बनकर प्रशंसा,

१. आचा० टीका पत्र १५३। २. आचा० टीका पत्र १५३।

पूजा-प्रतिष्ठा पाने के हेतु अनेक प्रकार की छल-फरेब एवं तिकड़मबाजी करता है। ऐसे कार्यों के लिए हिंसा, झूठ, माया, छल-कपट, बेईमानी, धोखेबाजी करने में कई लोग सिद्धहस्त होते हैं। अपने तुच्छ, क्षणिक जीवन में राग-द्वेष-वश पूजा-प्रतिष्ठा पाने के लिए बड़े-बड़े नामी साधक भी अपने त्याग, वैराग्य एवं संयम की बलि दे देते हैं; इसके लिए हिंसा, असत्य, बेईमानी, माया आदि करने में कोई दोष ही नही मानते। जिन्हें तिकड़मबाजी करनी आती नही, वे मन ही मन राग और द्वेष की, मोह और घृणा-ईर्ष्या आदि की लहरों पर खेलते रहते हैं, कर कुछ नही सकते, पर कर्मबन्धन प्रचुर मात्रा में कर लेते हैं। दोनों ही प्रकार के व्यक्ति पूजा-सम्मान के अर्थी हैं और प्रमादग्रस्त हैं।[1]

'झझाए' का अर्थ है—मनुष्य दुःख और संकट के समय हतप्रभ हो जाता है, उसकी बुद्धि कुण्ठित होकर किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाती है, वह अपने साधना-पथ या सत्य को छोड़ बैठता है। झंझा का संस्कृत रूप बनता है ध्यन्धता (धी+अन्धता) बुद्धि की अन्धता। साधक के लिए यह बहुत बड़ा दोष है। झंझा दो प्रकार की होती है—राग-झंझा और द्वेष-झंझा। इष्टवस्तु की प्राप्ति होने पर राग-झंझा होती है, जबकि अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होने पर द्वेष-झंझा होती है। दोनों ही अवस्थाओं में सूझ-बूझ मारी जाती है।[2]

लोकालोक प्रपच का तात्पर्य है—चौदह राजू परिमित लोक में जो नारक-तिर्यंच आदि एवं पर्याप्तक-अपर्याप्तक आदि सैकड़ों आलोकों—अवलोकनों के विकल्प (प्रपंच) हैं, वही है—लोकालोक प्रपंच।[3]

॥ तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

चउत्थो उद्देसओ

चतुर्थ उद्देशक

कषाय-विजय

१२८. से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च। एतं पासगस्स दंसणं उवरतसत्थस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि।

१२९. जे एगं जाणति से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणति से एगं जाणति।
सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स णत्थि भयं।
जे[4] एगं णामे से बहुं णामे, जे बहुं णामे से एगं णामे।

---

१. आचा० टीका पत्र १५३।
२. आचा० टीका पत्र १५४।
३. आचाराग टीका पत्र १५४।
४. यहाँ पाठान्तर भी है—जे एगणामे से बहुणामे, जे बहुणामे से एगणामे—इसका भाव है—जो एक स्वभाव वाला है, (उपशान्त है) वह अनेक स्वभाव वाला (अन्य गुण युक्त भी) है। जो अनेक स्वभाव वाला है वह एकस्वभाव वाला भी है।

दुक्खं लोगस्स जाणित्ता, वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं।
परेण परं जंति, णावकंखंति जीवितं।
एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढो विगिंचमाणे एगं विगिंचइ।
सड्ढी आणाए मेधावी।
लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं।
अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं।

१३०. जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिणिवट्टेज्जा कोधं च माणं च मायं च लोभं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मारं च णरगं च तिरियं च दुक्खं च।

एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स—आयाणं निसिद्धा सगडब्भि।

१३१. किमत्थि उवधी पासगस्स, ण विज्जति? णत्थि त्ति बेमि।

॥ चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥

१२८. वह (सत्यार्थी साधक) क्रोध, मान, माया और लोभ का (शीघ्र ही) वमन (त्याग) कर देता है। यह दर्शन (उपदेश) हिंसा से उपरत तथा समस्त कर्मों का अन्त करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी (तीर्थंकर) का है। जो कर्मों के आदान (कषायों, आस्रवों) का निरोध करता है, वही स्व-कृत (कर्मों) का भेत्ता (नाश करने वाला) है।

१२९. जो एक को जानता है, वह सब को जानता है।
जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है, अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता।

जो एक को झुकाता है, वह बहुतों को झुकाता है, जो बहुतों को झुकाता है, वह एक को झुकाता है।

साधक लोक—(प्राणि-समूह) के दुःख को जानकर (उसके हेतु कषाय का त्याग करे)

वीर साधक लोक के (संसार के) संयोग (ममत्व-सम्बन्ध) का परित्याग कर महायान (मोक्षपथ) को प्राप्त करते हैं। वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं, उन्हें फिर (असंयमी) जीवन की आकांक्षा नहीं रहती।

एक (अनन्तानुबंधी कषाय) को (जीतकर) पृथक् करने वाला, अन्य (कर्मों) को भी (जीतकर) पृथक् कर देता है, अन्य को (जीतकर) पृथक् करने वाला, एक को भी पृथक् कर देता है।

(वीतराग की) आज्ञा में श्रद्धा रखने वाला मेधावी होता है।

साधक आज्ञा से (जिनवाणी के अनुसार) लोक (षट्जीवनिकायरूप या

कषाय रूप लोक) को जानकर (विषयों) का त्याग कर देता है, वह अकुतोभय (पूर्ण-अभय) हो जाता है।

शस्त्र (असंयम) एक से एक बढ़कर तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता है किन्तु अशस्त्र (संयम) एक से एक बढ़कर नहीं होता।

१३०. जो क्रोधदर्शी होता है, वह मानदर्शी होता है;
जो मानदर्शी होता है, वह मायादर्शी होता है;
जो मायादर्शी होता है, वह लोभदर्शी होता है;
जो लोभदर्शी होता है, वह प्रेमदर्शी होता है;
जो प्रेमदर्शी होता है, वह द्वेषदर्शी होता है;
जो द्वेषदर्शी होता है, वह मोहदर्शी होता है;
जो मोहदर्शी होता है, वह गर्भदर्शी होता है;
जो गर्भदर्शी होता है, वह जन्मदर्शी होता है;
जो जन्मदर्शी होता है, वह मृत्युदर्शी होता है;
जो मृत्युदर्शी होता है, वह नरकदर्शी होता है;
जो नरकदर्शी होता है, वह तिर्यंचदर्शी होता है;
जो तिर्यंचदर्शी होता है, वह दुःखदर्शी होता है;

(अतः) वह मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यंच और दुःख को वापस लौटा दे (दूर भगा दे) यह समस्त कर्मों का अन्त करने वाले, हिंसा-असंयम से उपरत एवं निरावरण द्रष्टा (पश्यक) का दर्शन (आगमोक्त उपदेश) है।

जो पुरुष कर्म के आदान—कारण को रोकता है, वही स्व-कृत (कर्म) का भेदन कर पाता है।

१३१. क्या सर्व-द्रष्टा की कोई उपधि होती है, या नहीं होती? नहीं होती।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—सूत्र १२८ से १३० तक में कषायों के परित्याग पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही कषायों का परित्याग कौन करता है, उनके परित्याग से क्या उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, कषायों के परित्यागी की पहिचान क्या है? इन सब बातों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

१२८वें सूत्र में क्रोधादि चारों कषायों के वमन का निर्देश इसलिए किया गया है कि साधु-जीवन में कम से कम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु यदि चारित्र-मोहनीय कर्म के उदयवश साधु-जीवन में भी अपकार करने वाले के प्रति तीव्र क्रोध आ जाय, जाति, कुल, बल, रूप, श्रुत, तप, लाभ एवं ऐश्वर्य आदि के मद उत्पन्न हो जाये, अथवा पर-वंचना या प्रच्छन्नता, [illegible] आदि के रूप में माया का [illegible] हो जाये अथवा अधिक पदार्थों के संग्रह का लोभ जाग

उठे तो तुरन्त ही संभल कर उसका त्याग कर देना चाहिए, उभे शीघ्र ही मन से खदेड़ देना चाहिए, अन्यथा वह अड्डा जमा कर बैठ जाएगा, इसीलिए यहाँ शास्त्रकार ने 'वंता' शब्द का प्रयोग किया है। वृत्तिकार ने कहा है—क्रोध, मान, माया और लोभ को वमन करने से ही पारमार्थिक (वास्तविक) श्रमण भाव होता है, अन्यथा नही।

इस (कषाय-परित्याग) को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का दर्शन इसलिए बताया गया है कि कषाय का सर्वथा परित्याग किये बिना निरावरण एवं सकल पदार्थग्राही केवल (परम) ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति नही होती और न ही कषाय-त्याग के बिना सिद्धि-सुख प्राप्त हो सकता है।[1]

'आयाण सगडब्भि'—यह वाक्य इसी उद्देशक मे दो बार आया है, परन्तु पहली बार दिए गये वाक्य में आयाणं के बाद 'निसिद्धा' शब्द नही है, जबकि दूसरी बार प्रयुक्त इसी वाक्य में 'निसिद्धा' शब्द प्रयुक्त है। इसका रहस्य विचारणीय है। लगता है—लिपिकारों की भूल से 'निसिद्धा' शब्द छूट गया है।[2]

'आदान' शब्द का अर्थ वृत्तिकार ने इस प्रकार किया है—'आत्म-प्रदेशों के साथ आठ प्रकार के कर्म जिन कारणों से आदान—ग्रहण किये जाते हैं, चिपकाये जाते हैं, वे हिंसादि पाँच आस्रव, अठारह पाप स्थान या उनके निमित्त रूप कषाय—आदान हैं।[3]

इन कषायरूप आदानों का जो प्रवेश रोक देता है, वही साधक अनेक-जन्मों मे उपार्जित स्वकृत कर्मों का भेदन करने वाला होता है।[4]

आत्म-जागृति या आत्मस्मृति के अभाव में ही कषाय की उत्पत्ति होती है। इसलिए यह भी एक प्रकार से प्रमाद है। और जो प्रमादग्रस्त है, उसे कषाय या तज्जनित कर्मों के कारण सब ओर मे भय है। प्रमत्त व्यक्ति द्रव्यतः—सभी आत्म-प्रदेशों से कर्म संचय करता है, क्षेत्रतः—छह दिशाओ मे व्यवस्थित, कालत.—प्रतिक्षण, भावतः—हिंसादि तथा कषायो से कर्म संग्रह करता है। इसलिए प्रमत्त को इस लोक में भी भय है, परलोक में भी। जो आत्महित में जागृत है, उसे न तो संसार का भय रहता है, न ही कर्मों का।[5]

'एग जाणइ०' इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जो विशिष्ट ज्ञानी एक परमाणु आदि द्रव्य तथा उसके किसी एक भूत-भविष्यत् पर्याय अथवा स्व या पर पर्याय को पूर्ण रूप से जानता है, वह समस्त द्रव्यों एवं स्व-पर-पर्यायों को जान लेता है; क्योंकि समस्त वस्तुओ के ज्ञान के बिना अतीत-अनागत पर्यायों सहित एक द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार जो संसार की सभी वस्तुओ को जानता है, वह किसी एक वस्तु को भी उसके *अतीत-अनागत* पर्यायों सहित जानता है। एक द्रव्य का सिद्धान्त दृष्टि से वास्तविक लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

---

१. आचा० टीका पत्र १५४।
२. आचा० टीका पत्र १५५।
३. आचा० टीका पत्र १५५।
४. आचा० टीका पत्र १५५।
५. आचा० टीका पत्र १५५।

एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वावि।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं॥

'एक द्रव्य के जितने अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय अतीत, अनागत और वर्तमान में होते हैं उतने सब मिलाकर एक द्रव्य होता है।'[1]

प्रत्येक वस्तु द्रव्यदृष्टि से अनादि, अनन्त और अनन्तधर्मात्मक है। उसके भूतकालीन पर्याय अनन्त हैं, भविष्यत् कालीन पर्याय भी अनन्त होंगे और अनन्त धर्मात्मक होने से वर्तमान पर्याय भी अनन्त है।

ये सब उस वस्तु के स्व-पर्याय हैं। इनके अतिरिक्त उस वस्तु के सिवाय जगत् में जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं उनमें से प्रत्येक के पूर्वोक्त रीति से जो अनन्त-अनन्त पर्याय हैं, वे सब उस वस्तु के पर-पर्याय है।

ये पर-पर्याय भी स्व-पर्यायों के ज्ञान में सहायक होने से उस वस्तु सम्बन्धी हैं। जैसे स्व-पर्याय वस्तु के साथ अस्तित्व सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं उसी प्रकार पर-पर्याय भी नास्तित्व सम्बन्ध से उस वस्तु के साथ जुड़े हुए हैं।

इस प्रकार वस्तु के अनन्त भूतकालीन, अनन्त भविष्यत्कालीन, अनन्त वर्तमान कालीन स्व-पर्यायों को और अनन्तानन्त पर-पर्यायों को जान लेने पर ही उस एक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसके लिए अनन्तज्ञान की आवश्यकता है। अनन्तज्ञान होने पर ही एक वस्तु पूर्णरूप से जानी जाती है, और जिसमें अनन्तज्ञान होगा वह संसार की सर्व वस्तुओं को जानेगा।

इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है वह सभी वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है और जो सर्व वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है वही एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है। यही तथ्य इस श्लोक में प्रकट किया गया है—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावा सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः॥

'जे एगं नामे०'—इस सूत्र का आशय भी बहुत गम्भीर है—(१) जो विशुद्ध अध्यवसाय से एक अनन्तानुबन्धी क्रोध को नमा देता है—क्षयकर देता है, वह बहुत से अनन्तानुबन्धी मान आदि को नमा-खपा देता है, अथवा अपने ही अन्तर्गत अप्रत्याख्यानी आदि कषाय प्रकारों को नमा-खपा देता है। (२) जो एक मोहनीय कर्म को नमा देता है—क्षय कर देता है, वह शेष कर्म प्रकृतियों को भी नमा-खपा देता है।

इसी प्रकार जो बहुत से कम स्थिति वाले कर्मों को नमा-खपा देता है, वह उतने समय में एक अनन्तानुबन्धी कषाय को नमाता-खपाता है, अथवा एक मात्र मोहनीय कर्म को (उतने समय में) नमाता-खपाता है, क्योंकि मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटा-कोटी सागरोपमकाल की है, जबकि शेष कर्मों की २० या ३० कोटा-कोटी सागरोपम से अधिक स्थिति नहीं है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५५।

यहाँ 'वाम' शब्द 'वमक' (त्याग करने वाला) या 'उपशामक' अर्थ में ग्रहण करना अभीष्ट है। उपशम श्रेणी की दृष्टि से भी इसी तरह एकनाम बहुनाम की चतुर्भंगी समझ लेनी चाहिए।[1]

कषाय-त्याग की उपलब्धियाँ बताते हुए, 'अति धीरा महाजाणं परेण परं जंति' इत्यादि वाक्य कहे गये हैं। कर्म-विदारण में समर्थ, सहिष्णु या कषाय-विजयी साधक धीर कहलाते हैं। वृत्तिकार ने 'महाजाण' शब्द के दो अर्थ किये हैं—

(१) महान् यान (जहाज) महायान है, वह रत्नत्रयरूप धर्म है, जो मोक्ष तक साधक को पहुँचा देता है।[2]

(२) जिसमें सम्यग्दर्शनादि त्रय रूप महान् यान है, उस मोक्ष को महायान कहते हैं।[3]

'महायान' का एक अर्थ—विशाल पथ अथवा 'राजमार्ग' भी हो सकता है। संयम का पथ—राजमार्ग है जिस पर सभी कोई निर्भय होकर चल सकते हैं।

'परेण परं जंति' का शब्दशः अर्थ तो किया जा चुका है। परन्तु इसका तात्पर्य है आध्यात्मिक दृष्टि से (कषाय-क्षय करके) आगे से आगे बढ़ना। वृत्तिकार ने इसका स्पष्टीकरण यों किया है—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से नरक-तिर्यंचगतियों में भ्रमण रुक जाता है, साधक सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का यथाशक्ति पालन करके आयुष्य क्षय होने पर सौधर्मादि देवलोकों में जाता है। पुण्य शेष होने से वहाँ से मनुष्य लोक में कर्मभूमि, आर्यक्षेत्र, सुकुल-जन्म, मनुष्यगति तथा संयम आदि पाकर विशिष्टतर अनुत्तर देवलोक तक पहुँच जाता है। फिर वहाँ से च्यवकर मनुष्य जन्म तथा उक्त उत्तम संयोग प्राप्त कर उत्कृष्ट संयम पालन करके समस्त कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पर अर्थात् संयमादि के पालन से पर—अर्थात् स्वर्ग-परम्परा से अपवर्ग (मोक्ष) भी प्राप्त कर लेता है।[4] अथवा पर= सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (४) से उत्तरोत्तर आगे बढ़ते-बढ़ते साधक अयोगिकेवली गुणस्थान (१४) तक पहुँच जाता है। अथवा पर—अनन्तानुबन्धी के क्षय से पर—दर्शनमोह—चारित्रमोह का क्षय अथवा भवोपग्राही-घाती कर्मों का क्षय कर लेता है।

उत्तरोत्तर तेजोलेश्या प्राप्त कर लेता है, यह भी 'परेण परं जंति' का अर्थ है।

'णावकंखंति जीवियं' के दो अर्थ वृत्तिकार ने किये हैं—

(१) दीर्घजीविता नहीं चाहते, कर्मक्षय के लिए उद्यत क्षपक साधक इस बात की परवाह (चिन्ता) नहीं करते कि जीवन कितना बीता है, कितना शेष रहा है।

(२) वे असंयमी जीवन की आकांक्षा नहीं करते।[5]

'एगं विगिंचमाणे'—इस सूत्र का आशय यह है कि क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ उत्कृष्ट साधक एक अनन्तानुबन्धीकषाय का क्षय करता हुआ, पृथक्—अन्य दर्शनावरण आदि का भी क्षय कर लेता है। आयुष्यकर्म बंध भी गया हो तो भी दर्शनसप्तक का क्षय कर लेता है।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५६।
५. आचा० शीला० टीका पत्रांक १५७।

'सम्मत्तं' चउत्थं अज्झयणं

पढमो उद्देसओ

सम्यक्त्व: चतुर्थ अध्ययन : प्रथम उद्देशक

सम्यग्वाद : अहिंसा के सन्दर्भ में

१३२. से बेमि—जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंता ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं[1] पवेदिते। तं जहा—उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिएसु वा अणुवट्ठिएसु वा, उवरतदंडेसु वा अणुवरतदंडेसु वा सोवधिएसु वा अणुवधिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

१३३. तच्चं चेतं तहा चेतं अस्सिं चेतं पवुच्चति।

तं आइत्तु ण णिहे, ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तहा।

दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा।

णो लोगस्सेसणं चरे।

जस्स णत्थि इमा णाती अण्णा तस्स कतो सिया।

दिट्ठं सुतं मयं विण्णायं जमेयं परिकहिज्जति।

समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जातिं पकप्पेंति।

अहो य रातो य जतमाणे धीरे सया आगतपण्णाणे, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि त्ति बेमि।

॥ पढमो उद्देसओ सम्मत्तो ॥

---

१. 'खेतण्णेहिं' के स्थान पर 'खेअण्णेहिं', 'खेदण्णेहिं' आदि शब्द हैं, अर्थ पूर्ववत् है। चूर्णिकार ने 'खित्तण्णो' (क्षेत्रज्ञ) शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—'खित्तं आगासं, खित्तं जाणतीति खित्तण्णो, तं तु आहारभूतं दव्वं-काल-भावाणं अमुत्तं च पवुच्चति। मुत्तामुत्ताणि खित्तं च जाणतो पाएण दव्वादीणि जाणइ। जो वा संसारियाणि दुक्खाणि जाणति सो खित्तण्णो पंडितो वा।'' —क्षेत्र अर्थात् आकाश, क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। आकाश या क्षेत्र द्रव्यकाल-भावों का आधारभूत और अमूर्त्त है। मूर्त-अमूर्त और क्षेत्र को जो जानता है, वह प्रायः द्रव्यादि को जानता है। अथवा जो सांसारिक दुःखों को जानता है, वह भी क्षेत्रज्ञ या पण्डित कहलाता है।

१३२. मैं कहता हूँ—

जो अर्हन्त भगवान् अतीत में हुए है, जो वर्तमान में हैं और जो भविष्य में होंगे, वे सब ऐसा आख्यान (कथन) करते हैं, ऐसा (परिषद् में) भाषण करते हैं, (शिष्यों का संशय निवारण करने हेतु—) ऐसा प्रज्ञापन करते है, (तात्त्विक दृष्टि से—) ऐसा प्ररूपण करते है—समस्त प्राणियों, सर्व भूतों, सभी जीवों और सभी सत्त्वों का (डंडा आदि से) हनन नही करना चाहिए, बलात् उन्हें शासित नही करना चाहिए, न उन्हें दास बनाना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्राणों का विनाश करना चाहिए।

यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है। खेदज्ञ अर्हन्तों ने (जीव—) लोक को सम्यक् प्रकार से जानकर इसका प्रतिपादन किया है।

(अर्हन्तों ने इस धर्म का उन सबके लिए प्रतिपादन किया है), जैसे कि—

जो धर्माचरण के लिए उठे हैं अथवा अभी नहीं उठे हैं। जो धर्मश्रवण के लिए उपस्थित हुए है, या नहीं हुए हैं; जो (जीवों को मानसिक, वाचिक और कायिक) दण्ड देने से उपरत हैं अथवा अनुपरत है; जो (परिग्रहरूप) उपधि से युक्त हैं, अथवा उपधि से रहित हैं; जो संयोगों (ममत्व सम्बन्धों) में रत हैं, अथवा संयोगों में रत नहीं है।

१३३. यह (अर्हत्प्ररूपित अहिंसा धर्म) तत्त्व—सत्य है, तथ्य है, (तथारूप ही है)। यह इस (अर्हत्प्रवचन) में सम्यक् प्रकार से प्रतिपादित है।

साधक उस (अर्हत् भाषित धर्म) को ग्रहण करके (उसके आचरण हेतु अपनी शक्तियों को) छिपाए नहीं, और न ही उसे (आवेश में आकर) फेंके या छोड़े। धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जानकर (आजीवन उसका आचरण करे)।

(इष्ट-अनिष्ट) रूपों (इन्द्रिय-विषयों) से विरक्ति प्राप्त करे।

वह लोकैषणा में न भटके।

जिस मुमुक्षु में यह (लोकैषणा) बुद्धि (ज्ञाति-संज्ञा) नहीं है, उसमें अन्य (सावद्यारम्भ में) प्रवृत्ति कैसे होगी? अथवा जिसमें सम्यक्त्व ज्ञाति नहीं है या अहिंसा बुद्धि नहीं है उसमें दूसरी विवेक बुद्धि कैसे होगी?

यह जो (अहिंसा धर्म) कहा जा रहा है, वह दृष्ट, श्रुत (सुना हुआ), मत (माना हुआ), और विशेष रूप से ज्ञात (अनुभूत) है।

हिंसा में गृद्ध (आसक्त) रहने वाले और उसी में लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते रहते हैं।

(मोक्ष मार्ग में) अहर्निश यत्न करने वाले, सतत प्रज्ञावान, धीर साधक! तू देख, जो प्रमत्त हैं, वे (धर्म से) बाहर हैं। इसलिए तू अप्रमत्त होकर सदा (अहिंसादि धर्म में) पराक्रम कर।

— ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—इन दो सूत्रों में अहिंसा के तत्त्व का सम्यक् निरूपण, अहिंसा की त्रैकालिक एवं सार्वभौमिक मान्यता, सार्वजनीनता एवं इसकी सत्य-तथ्यता का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही अहिंसा व्रत को स्वीकार करने वाले साधक को कहाँ-कहाँ, कैसे-कैसे सावधान रहकर अहिंसा के आचरण के लिए पराक्रम करना चाहिए ? यह भी बता दिया गया है। यही अहिंसा धर्म के सम्बन्ध में सम्यग्वाद का प्ररूपण है।

'से बेमि' इन पदों द्वारा गणधर, तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा ज्ञात, अतीत-अनागत-वर्तमान तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित, अनुभूत, केवलज्ञान द्वारा दृष्ट, अहिंसा धर्म की सार्वभौमिकता की घोषणा करते हैं।[1]

आख्यान, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। दूसरों के द्वारा प्रश्न किये जाने पर उसका उत्तर देना आख्यान—कथन है, देव-मनुष्यादि की परिषद् में बोलना—भाषण कहलाता है, शिष्यों की शंका का समाधान करने के लिए कहना 'प्रज्ञापन' है, तात्त्विक दृष्टि से किसी तत्त्व या पदार्थ का निरूपण करना 'प्ररूपण' है।[2]

प्राण, भूत, जीव और सत्व वैसे तो एकार्थक माने गए हैं, जैसे कि आचार्य जिनदास कहते हैं—'एगट्ठिता वा एते'; किन्तु इन शब्दों के कुछ विशेष अर्थ भी स्वीकार किये गये हैं।[3]

'हतव्वा' से लेकर 'उद्वेयव्वा' तक हिंसा के ही विविध प्रकार बताये गये है। इनका अर्थ पृथक्-पृथक् इस प्रकार है[4]—

'हंतव्वा'—डंडा/चाबुक आदि से मारना-पीटना।

'अज्जावेतव्वा'—बलात् काम लेना, जबरन आदेश का पालन कराना, शासित करना।

'परिघेतव्वा'—बंधक या गुलाम बनाकर अपने कब्जे में रखना। दास-दासी आदि रूप में रखना।

'परितावेयव्वा'[5]—परिताप देना, सताना, हैरान करना, व्यथित करना।

'उद्वेयव्वा'— प्राणों से रहित करना, मार डालना।

---

१. अतीत के तीर्थंकर अनन्त हैं, क्योंकि काल अनादि होता है। भविष्य के भी अनन्त हैं, क्योंकि आगामी काल भी अनन्त है, वर्तमान में कम से कम (जघन्य) २० तीर्थंकर हैं जो पांच महाविदेहों में से प्रत्येक में चार-चार के हिसाब से हैं। अधिक से अधिक (उत्कृष्ट) १७० तीर्थंकर हो सकते हैं। महाविदेह क्षेत्र ५ हैं, उनमें प्रत्येक में ३२-३२ तीर्थंकर होते है, अतः ३२×५=१६० तीर्थंकर हुए। ५ भरत क्षेत्रों में पांच और ५ ऐरावत क्षेत्रों में पांच—यों कुल मिलाकर एक साथ १७० तीर्थंकर हो सकते हैं। कुछ आचार्यों का कहना है कि मेरु पर्वत से पूर्व और अपर महाविदेह में एक-एक तीर्थंकर होते है, यों ५ महाविदेहों में १० तीर्थंकर विद्यमान होते हैं। जैसा कि एक आचार्य ने कहा है—

सत्तरसयमुक्कोस, इअरे दस समयखेत्तजिणमाण् ।
चोत्तीस पढमदीवे अणतरद्धे य ते दुगुणा ॥ —आचा० वृत्ति पत्र १६२

२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।

३. देखिए प्रथम अध्ययन सूत्रांक ४९ का विवेचन।

४. आचा० निर्युक्ति गा० २२५, २२६ तथा आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।

५. परितापना के विविध प्रकारों के चिन्तन के लिए ऐर्यापथिक (इरियावहिया) सूत्र में पठित 'अभिहया' से लेकर 'जीवियाओ ववरोविया' तक का पाठ देखें। —श्रमण सूत्र (उपा० अमरमुनि) पृ० ५४

यह अहिंसा धर्म किञ्चित् हिंसादि से मिश्रित या पापानुबन्धानुष्ठान नहीं है, इसे द्योतित करने हेतु 'शुद्ध' विशेषण का प्रयोग किया गया है। यह त्रैकालिक और सार्वदेशिक, सदा सर्वत्र विद्यमान होने से इसे 'नित्य' कहा है, क्योंकि पंचमहाविदेह में तो यह सदा रहता है। शाश्वत इसलिए कहा है कि यह शाश्वत—सिद्धगति का कारण है।[1]

भ० महावीर ने प्रत्येक आत्मा में ज्ञानादि अनन्त क्षमताओं का निरूपण करके सबको स्वतन्त्र रूप से सत्य की खोज करने की प्रेरणा दी—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—यह कहकर। यही कारण है कि उन्होंने किसी पर अहिंसा धर्म के विचार थोपे नहीं, यह नहीं कहा कि "मैं कहता हूं, इसलिए स्वीकार कर लो।" बल्कि भूत, भविष्य, वर्तमान के सभी तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित है, इसलिए यह अहिंसाधर्म सार्वभौमिक है, सर्वजन-ग्राह्य है, यथार्थ है, सर्वज्ञों ने केवल-ज्ञान के प्रकाश में इसे देखा है, अनुभव किया है, लघुकर्मी भव्य जीवों ने इसे सुना है, अभीष्ट माना है। जीवन में आचरित है, इसके शुभ-परिणाम भी जाने-देखे गए हैं, इस प्रकार 'अहिंसा धर्म की महत्ता एवं उपयोगिता बताने के लिए ही' 'उट्ठिएसु' से लेकर इस उद्देशक के अन्तिम वाक्य तक के सूत्रों द्वारा उल्लेख किया गया है, ताकि साधक की दृष्टि, मति, गति, निष्ठा और श्रद्धा अहिंसा-धर्म में स्थिर हो जाए।[2]

'दिट्ठेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा' का आशय यह है कि इष्ट या अनिष्ट रूप जो कि दृष्ट हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, उनमें निर्वेद—वैराग्य धारण करे। इष्ट के प्रति राग और अनिष्ट के प्रति द्वेष/घृणा न करे।[3]

'लोकैषणा' से तात्पर्य है—सामान्यतया इष्ट विषयों के संयोग और अनिष्ट के वियोग की लालसा। यह प्रवृत्ति प्राय: सभी प्राणियों में रहती है, इसलिए साधक के लिए इस लोकैषणा का अनुसरण करने का निषेध किया गया है।[4]

॥ प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ

द्वितीय उद्देशक

सम्यग्ज्ञान : आस्रव-परिस्रव चर्चा

१३४. जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।
जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा।

---

१. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
२. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।
३. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६२।
४. आचा० शीला० टीका पत्रांक १६३।